प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

ग॥'

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोका हिन्दी अनुवाद हिन्दी बोलने वालोंके लिए प्रकाशित हो रहा है, इससे मुझे खुशी होती है। ये प्रवचन कार्य-कर्त्ताओंके सामने दिये गए है और इनमें आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रखी है।

इनमे तात्त्विक विचारोका आधार छोडे बगैर, लेकिन किसी वादमें न पड़ते हुए, रोजके कामोकी बातोका ही जिक्र किया गया है।

यहां श्लोकोके अक्षरार्थकी चिंता नही एक-एक अध्यायके सारका चिंतन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गावबाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम-परिहार पायेंगे।

मेरे जीवनमें गीताने जो स्था. पाया है, उसका मैं शब्दोसे वर्णन नही कर सकता हू। गीताका मुझपर अनत उपकार है। रोज मैं उसका आधा ... ा हूं और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ, जैसा ... झा हूं, इन प्रवचनोमें समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हू कि यह अनुवाद हरेक घरमें, जहा हिन्दी बोली जाती है, पहुचे और घर-घरमें इसका श्रवण, मनन और पठन हो।

—विनोबा

परंधाम, पवनार

१०-४-४७

निवेदन

पहला संस्करण

गीता-प्रवचन विनोबाजीके गीता-सम्बन्धी प्रवचनोंका संग्रह है। आजसे पन्द्रह साल पहले, सन् १९३२ में धूलिया (खानदेश) जेलमें उन्होंने गीताके प्रत्येक अध्यायपर एक-एक प्रवचन दिया था। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध देशभक्त व लेखक साने गुरुजीने उन्हें उसी समय लिपिबद्ध कर लिया था। ये प्रवचन मूल मराठीमें किये गए थे और प्रकाशित होने पर बहुत ही लोकप्रिय हुए। मराठी साहित्यमें आज गीतापर यह अनूठी पुस्तक मानी जाती है। मौलिकता, सुबोधता और सरसता इसके प्रधान गुण हैं। विनोबाका व्यक्तित्व ज्ञान, तप और कर्माचरणका त्रिवेणी-संगम है। इसमें जो डुबकी लगायेंगे, वे अवश्य कृतकृत्य होंगे।

यह अनुवाद मूल मराठीकी स्वयं विनोबाजी द्वारा संशोधित प्रतिसे किया गया है।

१९४७ —प्रकाशक

दूसरा संस्करण

हमें खुशी है कि पहले संस्करण की यह संशोधित आवृत्ति हम पाठकों को भेंट कर रहे हैं। हमारे अनुरोधपर विनोबाजीके आदेश से उनके शिष्य श्री दत्तोबा दास्ताने व कुन्दर दिवाणने पहले संस्करणको मूल मराठीसे मिलाकर बड़े परिश्रमसे अर्थ-सम्बन्धी संशोधन सुझाये थे और भाषा-सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये थे, जिनसे लाभ उठाकर यह संशोधित संस्करण तैयार किया गया है। श्री हरिभाऊजी भी इसे एक बार पूरी तरह देख गए हैं। इस सहायता व परिश्रमके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं। आशा है, हिन्दी-भाषी जनता पहले संस्करणके समान इसे भी अपनावेगी।

१९४८ —प्रकाशक

तीसरा संस्करण

'गीता-प्रवचन' का यह तीसरा संस्करण पाठकोंके हाथमें पहुंच रहा है। मराठी गीता-प्रवचनकी हाल में ही नवीन आवृत्ति निकली है। उसमें प्रारंभिक अनुक्रमणिकाके साथ अंतमें 'प्रकरणोंकी अनुक्रमणिका' भी दी गई है। ये दोनों इस तृतीय संस्करणमें जोड़ दी गई हैं, जिससे पाठकोंको पुस्तकमें अभीष्ट विषय जल्दी खोज लेने तथा पुस्तककी शृंखला एक साथ एक ही दृष्टिमें समझ लेनेमें सहायता मिलेगी।

एक शंकाका समाधान करते हुए पूज्य विनोबाकी कलमसे गीता-प्रवचनके सम्बन्धमें कुछ विचार सहज प्रवाहमें निकल गए थे। पाठकोंके लाभार्थ उन्हें भी यहां दे दिया गया है। सर्वोदय-यात्राके माडवी मुकाम (हैदराबाद राज्य) से १६-३-५१ के एक पत्रमें वे लिखते हैं—

"गीता-प्रवचन" में सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन'[१] उसके और आगेका ग्रन्थ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापर से कहा गया है। "गीताईकोष[१]—गीताई'का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालों के लिए है।" तीनोंमें मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है, वह संक्षेपमें सांगोपांग कहा है। पुस्तकें लिख तो रखी हैं। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओंके काम आवेंगी, और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुंचा भी है. परन्तु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। संसारका नाटक मैं देख रहा हूं। एक स्थानपर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूं। असंख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनों एक ही प्रवाहमें खिंचते जा रहे हैं, यह देखकर ईश्वरकी लीला-का ही चिंतन करें, दूसरा कुछ चिंतन न करें, ऐसा लगता है।

"यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता प्रवचन'को सारा पढ़कर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है शास्त्रीय नहीं। उसमें पुनरुक्ति भी है। गायक अवांतर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद

---

[१] विनोबाकृत ग्रन्थ

दोहराता रहता है, ऐसा उसमें किया गया है। मेरी तो कल्पनामें भी नही आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी जैसा सहृदय और 'लाँगहैंड' से ही 'शॉर्टहैंड' लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना, उन्हींमें इसकी परिसमाप्ति हो गई होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजीको इन प्रवचनोंसे लाभ मिला। मैं समझता हू, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो सिर्फ इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वरकी इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए।"

सितम्बर, १९५१ —प्रकाशक

छठा संस्करण

'गीता प्रवचन' के तीन सस्करण (३८००० 'प्रतियां) विनोबाजी की उत्तर भारतकी भूदान-यज्ञ-यात्रामें हाथो हाथ बिक गए। पिछला पांचवा सस्करण २० हजारका छापा गया था। यह ७-८ मासमें निकल गया। कुल मिलाकर ४६ हजार प्रतिया खप गईं। अब छठा सस्करण ५५ हजार प्रतियो का छपाया जा रहा है। यात्रा में इसे श्री विनोबाजी तथा लक्ष्मीनारायणजी भारतीय अच्छी तरह देख गये है और इसकी अशुद्धिया ठीक कर दी गई है। यह हर्ष की बात है कि विनोबाजीकी यात्राके प्रवाहके साथ इस ग्रथका प्रसार भी गगाके विस्तार के सदृश व्यापक होता जा रहा है।

अक्तूबर, १९५२ —प्रकाशक

विषय-क्रम

गीता-प्रवचन

पहला अध्याय

[१]

प्रिय भाइयो,

आजसे मै श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें कहनेवाला हू। गीताका व मेरा सम्बन्ध तर्कसे परे है। मेरा शरीर माके दूधपर जितना पला है उससे कही अधिक मेरा हृदय व बुद्धि, दोनो गीताके दूधसे पोषित हुए है। जहा हार्दिक सम्बन्ध होता है, वहा तर्ककी गुजाइश नही रहती। तर्कको काटकर श्रद्धा व प्रयोग, इन दो पखोसे ही मै गीता-गगनमें यथाशक्ति उडान मारता रहता हू। मै प्राय गीताके ही वातावरणमें रहता हू। गीता यानी मेरा प्राण-तत्त्व। जब मै गीताके सम्बन्धमें किसीसे बात करता हूं तब गीता-सागरपर तैरता हू, और जब अकेला रहता हू तब उस अमृत-सागरमें गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हू। इस गीता-माताका चरित्र मै हर रविवारको आपको सुनाऊ, यह तय हुआ है।

गीताकी योजना महाभारतमें की गई है। गीता महाभारतके मध्य-भागमें, एक ऊचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारत पर पड रहा है। एक ओर छ पर्व और दूसरी ओर बारह पर्व, इनके मध्य-भागमें, उसी तरह एक ओर सात अक्षौहिणी सेना व दूसरी ओर ग्यारह अक्षौहिणी, इनके भी मध्य-भागमे गीताका उपदेश दिया जा रहा है।

महाभारत व रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रन्थ है। उनमे वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमें एक-रूप हो गये है। राम, सीता, धर्म, द्रौपदी, भीष्म, हनुमान इत्यादि रामायण-महाभारतके चरित्रोसे सारा भारतीय जीवन आज हजारो वर्षोसे अभिमन्त्रित-सा हुआ है। ससारके इतर महा-काव्योके पात्र इस तरह लोक-जीवनमें घुले-मिले नही दिखाई देते। इस

दृष्टिसे महाभारत व रामायण नि सन्देह अद्भुत ग्रन्थ है। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र है। व्यासदेवने एक लाख सहिता लिखकर असंख्य चित्रो, चरित्रो व चारित्र्यो-का यथावत् चित्रण बडी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नही है; लेकिन उसी तरह केवल दोषमय भी इस ससारमे कोई नही है, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टतासे बता रहा है। इसमें जहा भीष्म-युधिष्ठिर जैसोके दोष दिखाये है, तो दूसरी ओर कर्ण दुर्योधनादिके गुणोपर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बताता है कि मानव-जीवन सफेद व काले ततुओका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जगत्के—विराट् ससारके—छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते है। व्यासदेवके इस अत्यन्त अलिप्त व उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रथ मानो एक सोनेकी बडी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जाय।

व्यासदेवने इतना बडा महाभारत लिखा, परन्तु उन्हे खुद अपना कुछ कहना था या नही? अपना कोई खास सन्देश किसी जगह उन्होने दिया है? किस स्थानपर व्यासदेवकी समाधि लगी है? स्थान-स्थानपर तत्त्वज्ञान व उपदेशोंके जगल-के-जगल महाभारतमे आये है, परन्तु इस सारे तत्त्वज्ञानका, उपदेशका और समूचे ग्रथका सारभूत रहस्य भी उन्होने कही लिखा है? हा, लिखा है, समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्गीतामें निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेवकी प्रधान सिखावन व उनके मननका सार-सचय है। इसीके आधारपर 'व्यास, मै मुनियोमे हू' यह विभूति अर्थपूर्ण साबित होनेवाली है। गीताको प्राचीन कालसे उपनिषद्की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदोका भी उपनिषद् है; क्योकि समस्त उपनिषदोको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्ने अर्जुनके निमित्तसे ससारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीतामें आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोंने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिन्दू-धर्मका, एक छोटा ही, परन्तु मुख्य ग्रथ है।

यह तो सभी जानते है कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान

सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' सज्ञा मिल गई। भगवान् और भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गए कि लोग उन्हे भी 'कृष्ण' नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण—इस तरह इन तीनोंमें मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया, मानो तीनोकी समाधि लग गई। गीताके अभ्यासको ऐसे ही एकाग्रता चाहिए।

[२]

कुछ लोगोका ख्याल है कि गीताका आरम्भ दूसरे अध्यायसे समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ग्यारहवे श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशकी शुरुआत होती है तो वहींसे आरम्भ क्यो न समझा जाय ? एक ने तो मुझे कहा—"भगवान्ने अक्षरोंमें अकार को ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'के आरम्भमे अनायास अ-कार आगया है। अतः वहींसे आरम्भ मान लेना चाहिए।" इस दलीलको हम छोड दें तो भी यहासे आरम्भ मानना अनेक दृष्टियोंसे उचित ही है। फिर भी उसके पहलेके प्रास्ताविक भागका महत्व तो है ही। अर्जुन किस भूमिका पर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथा-भागके बिना अच्छी तरह समझमें न आता।

कुछ लोग कहते है कि अर्जुनका क्लैव्य दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। उनके मतमें गीता केवल कर्मयोग ही नही बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर ज़रा विचार करनेपर इस कथनकी भूल हमें दीख जायगी। अठारह अक्षौहिणी सेना लडनेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान्ने अर्जुनको उस सेनाके लायक बनाया ? घबडाया तो अर्जुन था, न कि वह सेना। तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी ? यह बात तो कल्पनामें भी नही आ सकती। अर्जुन, जो लडाईसे परावृत्त हो रहा था, सो भयके कारण नही। सैकडो लडाइयोंमें अपना जौहर दिखानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण व कर्णके दात खट्टे कर दिये थे। सदा विजयी

व सब नरोमें एक ही सच्चा नर है, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोमसे टपकी पडती थी। अर्जुनको छेडनेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए क्लैव्यका आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया, परन्तु उनका वह तीर बेकार गया व फिर उन्हें दूसरे ही मुद्दोको लेकर ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी व्याख्यान देने पडे। तब यह निश्चित है कि महज क्लैव्य-निरसन जैसा सरल तात्पर्य गीताका नही है।

दूसरे कुछ लोग कहते है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्ध-प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। मेरी दृष्टिसे यह भी कथन ठीक नही है। इसकी छानबीन करनेके लिए पहले हमें अर्जुनकी भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहले अध्याय और दूसरे अध्यायमें जा पहुचनेवाली उसकी खाडीसे हमें बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन, जो समर-भूमिमें खडा हुआ, सो कृत-निश्चय होकर व कर्त्तव्य-भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमें थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टल नही पाया था। कम-से-कम मागका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जैसोकी मध्यस्थता, दोनों बेकार जा चुके थे। ऐसी स्थितिमें अनेक देशोके राजाओको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराके वह रणांगणमें खडा है और वीरोचित उत्साहसे श्रीकृष्णसे कहता है—"दोनो सेनाओके बीचमें मेरा रथ खडा कीजिए, जिससे मैं एकबार उन लोगोके चेहरे तो देख लूं, जो मुझसे लडनेके लिए तैयार होकर आये हैं।" कृष्णने ऐसा ही किया। अर्जुन चारो ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखाई देता है? दोनो ओर अपने ही नाते-रिश्तदारो, सगे-संबधियोका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि—दादा, बाप, लडके, पोते, आप्त-स्वजन-संबंधियोकी चार पीढिया मरने-मारनेके अतिम निश्चयसे वहा एकत्र हुई है। यह बात नही कि इससे पहले उसे इन बातोका अदाज न हुआ हो। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शनका कुछ जुदा ही प्रभाव मनपर पडता है। उस सारे स्वजन-समूहको देखकर उसके हृदयमें एक उथल-पुथल मचती है। वह खिन्न हो जाता है। आजतक उसने अनेक युद्धोमें असख्य वीरोका सहार किया था। उस समय वह खिन्न नही हुआ था, उसका गाडीव हाथसे छूट

नही पडा था, शरीरमें कप नही होने लगा था, उसकी आखें भीनी नही हो गई थी। तो फिर इसी समय ऐसा क्यो हुआ ? क्या अशोककी तरह उसके मनमें अहिंसा-वृत्ति उदय हो गयी थी ? नही, यह तो केवल स्वजना-सक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, वधु और आप्त सामने न होते तो उसने शत्रुओके मुड गेंदकी तरह उडा दिये होते । परन्तु इस आसक्ति-जनित मोहने उसकी कर्त्तव्य-निष्ठाको ग्रस लिया और तव उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। कर्त्तव्यनिष्ठ मनुष्यके मोहग्रस्त होनेपर भी नग्न—खुल्लमखुल्ला—कर्त्तव्यच्युति उसे सहन नही होती। वह कोई सद्‌विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुनका हुआ। अव वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमें एक पाप है। युद्धसे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वैराचर मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पडेगा, समाजपर तरह-तरहके सकट आवेंगे—आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा।

यहा मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकडो अपराधियोको फासीकी सजा दी थी। परन्तु एक दिन खुद उसीका लड़का खूनके जुर्ममें उसके सामने पेश किया गया। उसपर खून का इल्जाम सावित हुआ व खुद अपने ही लडकेको फासीकी सजा देनेकी नौवत उस पर आ गई। पर तव वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद वघारने लगा—"फासीकी सजा वडी अमानुष है। ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नही देता। इससे अपराधीके सुधारकी आशा नष्ट हो जाती है। खून करने-वालेने भावनाके आवेशमें, जोश व उत्तेजनामें, खून कर डाला। परतु उसकी आखो परसे खूनका जनून उतर जानेपर उस व्यक्तिको सजीदगीके साथ फांसीके तख्तेपर चढाकर मार डालना समाजकी मनुष्यताके लिए वडी लज्जाकी वात है, वडा कलक है", आदि दलीलें वह देने लगा। यदि अपना लडका सामने न आया होता तो न्यायाधीश साहव वेखटके जिंदगीभर फासीकी सजा देते रहते। किन्तु न्ययाधीश अपने लडकेके ममत्वके कारण ऐसी वातें करने लगे। वह आवाज आतरिक नही थी। वह आसक्ति-जनित थी। 'यह मेरा लडका है' इस ममत्वमेंसे वह वाङ्मय निकला था।

अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थी, वे गलत नही थी। पिछले महायुद्धमें सारे ससारने ठीक इन्ही परिणामोको प्रत्यक्ष देखा है। परन्तु सोचनेकी वात यह है कि वह अर्जुनका तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) नही, किंतु कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होने उनपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी हो गया होता तो उसे किसीने कितना ही अवातर ज्ञान-विज्ञान वताया होता, तो भी असली वातका जवाव मिले विना उसका समाधान न हुआ होता। परन्तु सारी गीतामे इस मुद्देका कही भी जवाव नही दिया गया, फिर भी अर्जुनका समाधान हुआ है। इस सबका भावार्थ यही है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्ति नही थी, वह युद्ध-प्रवृत्त ही था। युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूपसे निश्चित कर्त्तव्य था। उसे वह मोहवश होकर टालना चाहता था, और गीताका मुख्यतः इस मोहपर ही गदा-प्रहार है।

[३]

अर्जुन अहिंसाकी तो क्या सन्यासकी भी भाषा बोलने लगा था। वह कहता है—इस रक्त-लाछित क्षात्र-धर्मसे सन्यास ही अच्छा है। परन्तु क्या अर्जुनका वह स्वधर्म था? उसकी वह वृत्ति थी क्या? अर्जुन सन्यासीका वेश तो बडे मजेमें धारण कर सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे वना सकता था? संन्यासके नामपर यदि वह जगलमें जा रहा होता तो वहा हिरन मारना शुरू कर देता। अत. भगवान्ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तुम यह कह रहे हो कि मैं लडूंगा नही, सो तुम्हारा भ्रम है। आजतक जो तुम्हारा स्वभाव बना हुआ है वह तुम्हे लडाये विना कभी नही माननेका।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परन्तु स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिए; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमान-का कोई प्रश्न नही है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु

नहीं है कि जिसे बडा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड दें। वस्तुत: वह न बडा होता है, न छोटा। वह हमारे चित्तके भरका होता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण' इस गीता-वचनमें धर्म शब्दका अर्थ हिंदू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म आदि जैसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहा जो दो सौ व्यक्ति मौजूद है, उनके दो सौ धर्म है। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था वह आज नही है। आजका दस वर्ष बाद नहीं रहनेका। चितन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तिया बदलती जाती है, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता है व नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकडकर कुछ भी नही करना है।

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढता रहता हूं। सूर्य मुझे वदनीय भी है। परन्तु इसलिए यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोडकर उसके पास जाना चाहूंगा तो जलकर खाक हो जाऊगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिलकुल तुच्छ हो, वह स्वय प्रकाशी न हो, तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करने का सामर्थ्य मुझमें न आ जायगा, तबतक सूर्यसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंको यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमें रहने चलो', तो क्या मछलिया उसे मजूर करेंगी ? मछलिया तो पानीमें ही जी सकती है, दूधमें मर जायगी।

दूसरेका धर्म सरल मालूम हो, तो भी उसे ग्रहण नहीं करना है। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमें बाल-बच्चोंकी ठीक सभाल नही की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ सन्यास ले ले तो वह ढोग होगा व भारी भी पडेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाए जोर पकडेंगी। संसारका बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जगलमें जाने-वाला पहले वहां छोटी-सी कुटिया बनावेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड लगावेगा। ऐसा करते-करते वहा भी उसपर सवाया ससार खड़ा करनेकी नौबत आ जायगी। यदि सचमुच मनमें वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर सन्यास भी कौन कठिन बात है? सन्यासको आसान बनानेवाला स्मृति-वचन तो है

ही। परन्तु खास बात वृत्तिकी है। जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होगी, उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिन यह प्रश्न नही है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणति वास्तविक होनी चाहिए।

परन्तु बाज भावुक व्यक्ति पूछते है—"यदि युद्ध-धर्मसे सन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है, तो फिर भगवान्ने अर्जुनको सच्चा सन्यासी ही क्यो न बनाया? उनके लिए क्या यह असभव था?" उन्हें असंभव तो कुछ भी नही था। परन्तु उसमें अर्जुनका फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता? परमेश्वरने स्वतन्त्रता दे रखी है। अतः हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे, इसीमे मजा है। छोटे बच्चे खुद तस्वीरें निकालनेमें आनन्द मानते है। उन्हे यह पसन्द नही आता कि कोई उनसे हाथ पकडकर तस्वीर खिचाये। शिक्षक यदि बच्चोके सवाल हल कर दिया करें तो फिर बच्चो की बुद्धि बढेगी कैसे? अतः मा-बाप व गुरुका काम सिर्फ सुझाव करना है। परमेश्वर अन्दरसे हमें सुझाता रहता है। इससे अधिक वह कुछ नही करता। कुम्हारकी तरह भगवान ठोक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरेकका मटका तैयार करे तो उसमें सार ही क्या? हम मिट्टीकी हडिया तो है नही, हम तो चिन्मय हैं।

इस सारे विवेचनसे एक बात आपकी समझमें आगई होगी कि गीताका जन्म, स्वधर्ममें बाधक जो मोह है, उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-समूढ हो गया था। स्वधर्मके विषयमें उसके मनमें मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्णके पहले उलहनेके बाद यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवान्ने पूछा है—"अर्जुन, तुम्हारा मोह चला गया न?" और अर्जुन जवाब देता है—"हा, भगवान्, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका बोध हो गया।" इस तरह यदि गीताके उपक्रम और उपसहारको मिलाकर देखें तो मोह-निरसन ही उसका फलित निकलता है। गीता ही नही, सारे महाभारत-का यही उद्देश्य है। व्यासजीने महाभारतके प्रारम्भमे ही कहा है कि लोक-हृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मैं यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हू।

[४]

आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आई है; इसलिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही, परन्तु इससे और भी एक उपकार है। अर्जुनकी इस भूमिकामें उसके मनकी अत्यन्त ऋजुताका पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु अथवा सरल स्वभाववाला' है। उसके मनमें जो कुछ भी विकार या विचार आये, वे सब उसने दिल खोलकर भगवान्के सामने रख दिये। मनमें कुछ भी छिपा नहीं रखा और वह अतको श्रीकृष्णकी शरण गया। सच पूछिये तो वह पहलेसे ही कृष्णकी शरण था। कृष्णको सारथी बनाकर जबसे उसने अपने घोडोंकी लगाम उनके हाथोंमें पकडाई, तभीसे उसने अपनी मनोवृत्तियोंकी लगाम भी उनके हाथोंमें सौंप देनेकी तैयारी कर ली थी। आइए, हम भी ऐसा ही करें। 'अर्जुनके पास तो कृष्ण थे। हमें कृष्ण कहा मिलेंगे', ऐसा हम न कहें। 'कृष्ण' नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक समझकी उलझनमें हम न पडें। अतर्यामीके रूपमें कृष्ण हम प्रत्येकके हृदयमें विराजमान है। हमारे सबसे अधिक निकट वही है। तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उसके सामने रख दें और उससे कहें—"भगवन्, मैं तेरी शरण हू, तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू बतायेगा, मैं उसीपर चलूगा।" यदि हम ऐसा करेंगे तो वह पार्थ-सारथी हमारा भी सारथ्य करेगा, अपने श्रीमुखसे वह हमें गीता सुनावेगा और हमें विजय-लाभ करा देगा।

रविवार, २१-२-३२

दूसरा अध्याय

[५]

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरिशरणता होती है, तो फिर विपादका भी योग बन जाता है। इसीको हृदय-मथन कहते हैं। गीताकी इस भूमिकाको मैंने उसके सकल्पकारके अनुसार अर्जुन-विषाद-योग जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए, विषाद-योग जैसा सर्वसाधारण नाम दिया है; क्योकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्त-मात्र है। यह न समझना चाहिए कि पंढरपुर (महाराष्ट्र)के पाडुरगका अवतार सिर्फ पुडलीकके ही लिए हुआ; क्योकि हम देखते है कि पुडलीकका निमित्त लेकर वह हम जड जीवोके उद्धारके लिए आज हजारो वर्षोंसे खडा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यो न हो, हम सबके लिए हुई है। अत गीताके पहले अध्यायके लिए विषाद-योग जैसा साधारण नाम ही अच्छा मालूम होता है। यह गीता-रूपी वृक्ष यहासे बढते-बढते अतके अध्यायमें प्रसाद-योग रूपी फलको प्राप्त होनेवाला है। ईश्वरकी इच्छा होगी तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमें वहातक पहुच जायगे।

दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरम्भ होता है और शुरूमें ही भगवान् जीवनके महासिद्धान्त बता रहे हैं। इसमें उनका आशय यह है कि यदि शुरूमें ही जीवनके वे मुख्य तत्त्व पट जाय कि जिनके, आधारपर जीवनकी इमारत खडी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायगा। दूसरे अध्यायमें आनेवाले 'साख्य-बुद्धि' शब्दका अर्थ मैं करता हू—जीवनके मूलभूत सिद्धात। इन मूल सिद्धातोको अब हमें देख जाना है। परन्तु इसके पहले यदि हम इस 'साख्य' शब्दके प्रसगसे गीताके पारिभाषिक शब्दोके अर्थका थोडा स्पष्टीकरण कर लें तो अच्छा होगा।

गीता पुराने शास्त्रीय शब्दोंको नये अर्थोंमें लिखनेकी आदी है। पुराने शब्दोंपर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रांतिकी अहिंसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रियामें सिद्धहस्त हैं। इससे गीताके शब्दोंको व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिका परसे ये सब अर्थ सही हो सकते हैं, और मैं समझता हूं कि उनके विरोधकी आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतन्त्र अर्थ भी कर सकते हैं।

इस सिलसिलेमें उपनिषद्में एक सुन्दर कथा आती है। एक बार देव, दानव और मानव, तीनों प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुंचे। प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर बताया 'द'। देवोंने कहा—"हम देवता लोग कामी हैं, हमें विषयभोगोंका चस्का लग गया है, अतः हमें ब्रह्माने 'द' अक्षरके द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है।" दानवोंने कहा—"हम दानव बड़े क्रोधी और दयाहीन हो गए हैं, हमें 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षा दी है कि 'दया' करो।" मानवोंने कहा—"हम मानव बड़े लोभी और धन-संचयके पीछे पागल हो गए हैं, हमें 'द'के द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है।" प्रजापतिने सभीके अर्थोंको ठीक माना; क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवोंसे प्राप्त किया था। गीताकी परिभाषाका अर्थ करते समय उपनिषद्की यह कथा हमें ध्यानमें रखनी चाहिए।

[६]

दूसरे अध्यायमें जीवनके तीन महा-सिद्धांत पेश किये गए हैं—(१) आत्माकी अमरता और अखंडता, (२) देहकी क्षुद्रता, और (३) स्वधर्मकी अबाध्यता। इनमें स्वधर्मका सिद्धांत कर्त्तव्य-रूप है और शेष दो ज्ञातव्य हैं। पिछले अध्यायमें मैंने स्वधर्मके सम्बन्धमें कुछ बताया है। यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। ऐसी बात नहीं है कि हम आकाशसे गिरे और धरतीपर चलने लगे। हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था, हमारे मां-बाप थे, अड़ोसी-पड़ोसी थे। ऐसे इस प्रवाहमें हमारा जन्म होता

है। अत. जिन मा-बापकी कोखसे मै जन्मा हूं, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मत. ही प्राप्त हो गया है, और जिस समाजमें मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है, बल्कि यह भी कह सकते है कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है, क्योकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते है और कहते है कि जैसे पत्नीका सम्बन्ध अविच्छेद्य माना गया है, वैसे ही यह स्वधर्म-सम्बन्ध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण—दूसरे दर्जेकी—मालूम होती है। मै स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हू। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममें करना बाकी नही रहा। वह पहलेसे ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यों न हो, अब टाली नही जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्‌में हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नही है। स्वधर्मको टालते जाना मानो 'स्व'को ही टालने जैसी आत्मघातकता है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे बढ सकते है। अत· यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नही छोडना चाहिए—यह जीवनका एक मूलभूत सिद्धात स्थिर होता है।

स्वधर्म हमे इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए । परन्तु अनेक प्रकारके मोहोके कारण ऐसा नही होता, अथवा बडी कठिनाईसे होता है और हुआ भी तो उसमें विष—अनेक प्रकारके दोष—मिल जाते है। स्वधर्मके मार्गमें काटे बखेरनेवाले इन मोहोके बाहरी रूपोकी तो कोई गिनती ही नही है। फिर भी, जब हम उनकी छानबीन करते है, तो उन सबकी तहमें एक ही बात दिखाई देती है—सकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मै और मेरे शरीरसे ताल्लुक रखनेवाले लोग-बाग, बस इतनी ही मेरी व्याप्ति—फैलावकी सीमा है। इस दायरेके बाहर जो है, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन है। भेदकी ऐसी दीवार यह देह-बुद्धि खडी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हें मैंने 'मैं' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देहबुद्धिके इस दुहरे पेचमें पड़कर हम तरह-तरह के छोटे

वाडे बनाने लगते है। प्राय. सब लोग इसी कार्यक्रममें लगे रहते है। इनमें किसीका वाडा बडा तो किसीका छोटा; परन्तु है आखिर वह वाडा ही। इस शरीरके चमडे के जितनी ही उसकी गहराई। कोई कुटुम्बाभिमानका वाडा बनाकर रहता है तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामका एक वाडा, हिंदू-मुसलमान नामका दूसरा, ऐसे एक-दो नही, अनेक वाडे बने ए है। जिधर देखिए उधर ये वाडे-ही-वाडे। हमारे इस जेलमें भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरहके वाडे बने हुए हैं, मानो इसके बिना हम जी ही नही सकते। परन्तु इसका नतीजा क्या होता है? नतीजा एक ही। हीन-विकारोंके जतुओकी बाढ और स्वधर्म-रूपी आरोग्यका नाश।

[७]

ऐसी दशामें स्वधर्मनिष्ठा अकेली पर्याप्त नही होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धांत जाग्रत रखने पडते हैं। एक तो यह कि मैं यह मरण-शील देह नही हूं, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपडी है, और दूसरा यह कि मैं कभी न मरनेवाला अखड और व्यापक आत्मा हू। इन दोनोको मिला-कर एक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पडता है कि गीता उसीका पहले आवाहन करती है और स्वधर्मका अवतार बादको। कुछ लोग पूछते हैं कि तत्त्वज्ञान सबधी ये श्लोक आरभ में ही क्यो? परन्तु मुझे लगता है कि गीतामें यदि कोई श्लोक ऐसे है जिनकी जगह बिलकुल नही बदली जा सकती तो वे यही श्लोक हैं।

इतना तत्वज्ञान यदि मनमें अकित हो जाय तो फिर स्वधर्म बिल-कुल भारी नही पडेगा। यही बात नही, किन्तु स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पडेगा। आत्मतत्त्वकी अखडता और देहकी क्षुद्रता, इन बातोको समझ लेना कोई कठिन नही है, क्योंकि ये दोनो सत्य वस्तुएं है। परन्तु हमें उनका विचार करना होगा। बार-बार मनमें उनका मथन करना होगा। इस चामके महत्वको घटाकर हमें आत्माको महत्व देना सीखना होगा।

देखिए, यह देह तो पल-पलमें बदलता रहता है। बचपन, जवानी और बुढापा—इस चक्रका अनुभव किसे नही है? आधुनिक शास्त्रज्ञोका तो कहना है कि सात सालमें शरीर बिलकुल बदल जाता है और खूनकी पुरानी एक बूद भी शेप नही रहती। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमें पुराना शरीर मर जाता है। और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मियाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे। बहुत वर्षकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी मासे मिला तो मां उसे पहचान न सकी, ऐसे किस्से हम सुनते है। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मर रहा देह ही तेरा रूप है? रात-दिन जहां मल-मूत्रकी नालिया बहती है और तेरे जैसा जबर्दस्त धोनेवाला मिल जाने पर भी जिसका अस्वच्छता-का व्रत छूटता ही नही है, क्या वही तू है? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला; वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देनेवाला; वह साढे तीन हाथकी जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी; वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्त्तन देखनेवाला; वह मरनेवाला और तू उसके मरणका व्यव-स्थापक। तेरा और उसका भेद इतना स्पप्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योकर बनता है? यह क्या कहता है कि इस देहसे जितने संबंध रखते है वही मेरे है। और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्या करता है? भगवान् पूछते है कि "अरे, देह का नाश क्या शोक करने जैसी बात है?"

देह तो कपडेकी तरह है। पुराने फट जाते हैं, इसीसे तो नये धारण किये जा सकते है। यदि कोई एक ही शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता, तो आत्माकी बुरी गत होती। सारा विकास रुक जाता, आनन्द हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मद हो जाती। अतः देहका नाश शोचनीय नही हो सकता। हां, यदि आत्माका नाश हो सकता होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह मानो एक अखंड बहता हुआ झरना है। उस पर अनेक कलेवर आते और जाते है। इसलिए देहके नाते-रिश्तोंके चक्करमें पड़कर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये है, ऐसे भेद या टुकडे करना बिलकुल अनुचित है। देखो, यह सारा ब्रह्मांड मानो एक सुन्दर बुनी हुई चादर है। कोई छोटा बच्चा

जैसे हाथमें कैंची लेकर चादरके टुकडे काट देता है, वैसे ही इस देहके बराबर कैंची लेकर उस विश्वात्मा के टुकड़े करना कितना लडकपन और कितना हिंसा है !

सचमुच यह बडे दुःखकी बात है कि जिस भारत-भूमिमें ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमें इन छोटे-बड़े दलो, फिरको और जातियोकी चारो ओर भरमार दिखाई देती है। और मरनेका तो इतना डर हमारे मनमें घुस बैठा है कि वैसा शायद ही कही दूसरी जगह हो। इसमें कोई शक नही कि दीर्घकालीन परतन्त्रताका ही यह परिणाम है, परन्तु यह बात भूल जानेसे भी काम नही चलेगा कि वह इस परतन्त्रताका एक कारण भी है।

मरणका तो शब्द भी हमें नही सुहाता। मरणका नाम ही हमें अमंगल मालूम होता है। ज्ञानदेव को बडे दुःखके साथ लिखना पडा है—

"मर शब्द नहीं है सहते, मर जाते है तो रोते।"

फिर जब कोई मर जाता है, तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते है ? मानो वह हमारा एक कर्तव्य ही हो ! यहा तक कि किरायेसे रोनेवाले बुलाने तक बात जा पहुची है। मृत्यु निकट आ जानेपर भी रोगीको नहीं कहेंगे। यदि डाक्टरने कह दिया है कि यह नही बचेगा, तो भी रोगीको अन्धकार में रखेंगे। खुद डाक्टर भी साफ-साफ नहीं कहेगा, आखिर दमतक पेट-में दवाकी शीशिया उंडेलता रहेगा। इसके बजाय यदि सत्य बात बता-कर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरणकी ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो ! किंतु उन्हे डर यह लगता है कि कही इस धक्केसे यह भाडा पहले ही न फूट जाय। परन्तु भला, क्या निश्चित समयसे पहले यह भाडा फूटनेवाला था ? और फिर जो भांडा दो घटे बाद फूटनेवाला है, वह थोडा पहले फूट गया, तो उससे बिगडा क्या ? इसके मानी यह नही कि हम कठोर-हृदय और प्रेमविहीन हो जाय। किन्तु देहासक्ति प्रेम नही है। उलटे देहासक्तिको दूर किये बिना सच्चे प्रेमका उदय ही नहीं होता।

जब देहासक्ति चली जायगी, तब यह मालूम हो जायगी कि देह तो सेवाका एक साधन है और तब देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परन्तु आज तो हम देहकी पूजाको ही अपना साध्य मान बैठे है। हम यह

बात भी भूल गये है कि साध्य तो स्वधर्माचरण है । देहको सम्हालनेकी एवं उसे खिलाने-पिलानेकी आवश्यकता यदि है, तो वह स्वधर्माचरणके लिए । केवल जीभके चोचले पूरा करनेके लिए उसकी जरूरत नही । चम्मचसे चाहे हलवा परोसो चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नही । ऐसी ही स्थिति जीभकी होनी चाहिए—उसे रस-ज्ञान तो होना चाहिए, पर सुख-दुःख नही । शरीरका भाडा शरीरको चुका दिया, बस खतम । चर्खेसे सूत कात लेना है, इसलिए उसे तेल देनेकी आवश्यकता है । इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना जरूरी है । इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करें तो मूलतः क्षुद्र होनेपर भी उसका मूल्य बढ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है ।

लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममें न लाकर उसीमे डूब जाते है और आत्मसकोच कर लेते है । इससे यह देह, जो पहले से ही न कुछ है, और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है । इसलिए सन्तजन दृढतापूर्वक कहते है कि 'देह और देह-संबध निंद्य है, श्वान, सूकर आदि वन्द्य हैं ।' अरे, तू इस देहकी, और देहसे जिनका संबध हुआ है, उन्हीकी दिन-रात पूजा मत कर । दूसरोको भी पहचानना सीख । सन्त इस प्रकार हमें व्यापक होनेकी सीख देते है । हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रके अतिरिक्त दूसरोंके पास अपनी आत्मा कुछ भी ले जाते है क्या ? 'जीवमें जीव समाये । आत्मामें आत्मा मिलाये'—ऐसा हम करते है क्या ? अपने आत्म-हंसको इस पीजरेके बाहरकी हवा खिलाते है क्या ?—क्या कभी तेरे मनमे ऐसा आता है कि अपने माने हुए दायरेको छेदकर कल मैंने नये दस दोस्त बनाये । आज पन्द्रह हुए । कल पचास होगे । और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मै विश्वका, इस प्रकार अनुभव करने लगूगा ? हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोंको पत्र लिखते है, इसमें क्या विशेषता है ? किंतु जेलसे छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनैतिक कैदी नही, चोर कैदी—को पत्र लिखेंगे क्या ?

हमारा आत्मा व्यापक होने के लिए छटपटाता रहता है । वह चाहता है कि सारे जगतको गले लगालें । परन्तु हम उसे कोठरीमें बन्द कर देते

है। आत्माको हमने कैदी बना डाला है। उसकी याद तक हमें नही होती। सबेरेसे लेकर शामतक हम देहकी ही सेवामें लगे रहते है। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा-ताजा हुआ या कितना दुबला हो गया। मानो ससारमें कोई दूसरा आनन्द ही नही। भोग और स्वादका आनन्द तो पशु भी लेते है। अब त्याग और स्वाद-भगका आनन्द भी देखेगा या नही? स्वय भूखसे पीडित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्यको देनेमें क्या आनन्द है—उसका अनुभव कर। इसके स्वादको चख। मा जब बच्चेके लिए कष्ट उठाती है तब उसे इस स्वादका थोडा-सा मजा मिलता है। मनुष्य 'अपना' कहकर जो सकुचित दायरा बनाता रहता है उसमें भी उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्म-विकासका स्वाद चखे; क्योकि उसने देहबद्ध आत्मा थोडा, और कुछ देरके लिए उससे बाहर निकलता है। परन्तु यह बाहर आना किस प्रकारका है? जिस प्रकार कि जेलकी कोठरीके कैदीका जेलके अहातेमें आना हो। परन्तु आत्माका काम इतनेसे नही चलता। आत्माको तो मुक्तानन्द चाहिए।

साराश, (१) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधर्मके टेढे रास्तेको छोड़कर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकडे। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोडे। (२) देह क्षण-भगुर है, यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जब आवश्यकता हो तो उसे स्वधर्म के लिए ही खतम भी कर दे। (३) आत्माकी अखडता और व्यापकताका भान सतत जाग्रत रखे और चित्तसे 'स्व'–'पर' के भेदको निकाल डाले। जीवनके ये मुख्य सिद्धात भगवान बताते है। जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्सदेह एक दिन 'नरदेहके ही द्वारा, सच्चिदानन्द पद धारा' इस अनुभवको प्राप्त करेगा।

[८]

भगवान्ने जीवनके सिद्धात बताये तो, किन्तु केवल सिद्धात बता देनेसे काम पूरा नही हो सकता। गीतामें वर्णित ये सिद्धात तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें पहलेसे ही मौजूद है। गीताने उन्हीको फिरसे उपस्थित किया तो इसमें गीताकी अपूर्वता नही है। उसकी अपूर्वता तो यह बत-

लानेमें है कि इन सिद्धातोको आचरणमें कैसे लावें ? इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है ।

जीवनके सिद्धातोको व्यवहारमें लानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको योग कहते है । साख्यका अर्थ है—सिद्धांत अथवा शास्त्र । और योगका अर्थ है कला । ज्ञानदेव साक्षी देते है—"योगियोको सधी जीवन-कला ।" गीता सांख्य और योग—शास्त्र और कला—दोनोसे परिपूर्ण है । शास्त्र और कला, दोनो के योगसे जीवन-सौंदर्य खिलता है । कोरा शास्त्र हवाई महल है । सगीत-शास्त्रको समझ तो लिया, किन्तु यदि कंठसे सगीत प्रकट करनेकी कला न सधी, तो नाद-ब्रह्म की सजावट नही होगी । यही कारण है कि भगवान्‌ने सिद्धातके साथ-ही-साथ उनके विनियोग जाननेकी कला भी बताई है । तो वह भला कौनसी कला है ? देहको तुच्छ मानकर आत्माकी अमरता और अखंडतापर दृष्टि रखकर स्वधर्मका आचरण करनेकी वह कला कौनसी है ?

जो कर्म करते है उनकी दुहरी भावना होती है । एक तो यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे । यह हमारा अधिकार है । और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखनेको नही मिलता हो तो हम कर्म ही नही करेंगे । गीता इन दोके अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती है । वह कहती है—"कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानो ।" जो कर्म करता है उसे फलका अधिकार अवश्य है । परन्तु तुम उस अधिकारको स्वयं ही छोड दो । रजोगुण कहता है—"लूगा तो फलके सहित ही ।" और तमोगुण कहता है, "छोडूगा तो कर्म-समेत ही ।" ये दोनो एक-दूसरेके भाई ही है । अतः तुम इन दोनोंसे आगे बढकर शुद्ध सत्वगुणी बनो—अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड दो और फलको छोडकर कर्म करो । पहले और पीछे, कही भी फलाशा मत रखो ।

गीता जब यह कहती है कि फलाशा मत रखो, तो साथ ही वह यह जताकर कहती है कि कर्मको उत्तमता और दक्षतासे करना चाहिए । सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए । यह अपेक्षा उचित ही है; क्योकि सकाम पुरुष तो फलासक्त

है, इसलिए फल-सबधी स्वप्न-चिन्तन में उसका थोडा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेंगे। परन्तु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नही, हवाको विश्राम नही, सूर्य सदैव जलता ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम कर्त्ता एक सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। अब यदि ऐसे निरन्तर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा ? फिर चित्त-की समता एक बडा ही कुशल गुण है। और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही है। किसी एक बिलकुल बाहरी कारीगरीके कामको देखो तो उसमें भी हस्तकौशलके साथ ही यदि चित्तके समत्वका सहयोग हो जाता है, तो यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुन्दर बन जायगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमें जो अन्तर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल', इस दृष्टिके कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका थोडा भी ध्यान हट गया तो उसमें उसे नैतिक दोष नही मालूम होता। अधिक हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पडता है। परन्तु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्तव्य-बुद्धि रहती है। अत. वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोडी-सी भी कमी न रह जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी भी तरह देखिए, फल-त्याग अत्यन्त कुशल एवं यशस्वी तत्त्व सिद्ध होता है। अत फल-त्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिए।

यदि निष्काम कर्मकी बात छोड दें तो भी खुद कर्ममें जो आनन्द है वह उसके फलमें नही है। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है वह आनन्दका एक स्रोत ही है। चित्रकारसे कहिए—"चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम जितने चाहो पैसे ले लो", तो वह नही मानेगा। किसानसे कहिए—"खेतपर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, उतना अनाज तुम्हे दे देंगे।" यदि वह सच्चा किसान होगा, तो वह यह सौदा पसन्द न करेगा। किसान प्रात काल खेतपर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गाना गाते

है। गाय-बैल उसके आस-पास घिरे रहते है। वह प्रेमसे उन्हे सहलाता है। जो झाड़-पेड लगाये है, उनको भर नजर देखता है। इन सब कामोंमें एक सात्विक आनन्द है। यह आनन्द ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलनामें उसका वाह्य फल बिलकुल ही गौण है।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौ गुना बढा देती है। फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्म-विषयक तन्मयता समाधिके दर्जेकी होती है। इसलिए उसका आनन्द औरोसे सौ-गुना अधिक होता है। इस तरह देखें तो यह बात तुरन्त समझमें आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वतः ही एक महान् फल है। ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है—"वृक्षमें फल लगते है, पर फलमें अब और क्या फल लगेंगे ?" इस देह-रूपी वृक्षमे निष्काम स्वधर्माचरण जैसा सुन्दर फल लग चुकनेपर अब और किसी फलकी और क्यो अपेक्षा रखें ? किसान खेतमें गेहूं बोये और गेहू बेचकर ज्वारकी रोटी खाये ? सुस्वादु केले लगाये और उन्हे बेचकर मिर्च क्यो खाये ? अरे भाई, केले ही खाओ न ? पर लोकमतको यह स्वीकार नही। केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्चपर ही टूटते है। गीता कहती है— "तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्मको ही पियो और कर्मको ही पचाओ।" बस, कर्म करनेमें ही सब-कुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनन्दके लिए खेलता है। इससे उसे व्यायामका फल अपने आप ही मिल जाता है। परन्तु उस फलकी ओर उसका ध्यान नही रहता। उसका सारा आनन्द उस खेलमें ही रहता है।

[९]

सन्त-जनोंने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है। तुकारामके भक्ति-भावको देखकर शिवाजी महाराजके मनमें उसके प्रति बहुत आदर हो जाता था। एक बार उन्होंने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया। परन्तु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ। उन्होंने अपने मनमें कहा—"मेरी भक्तिका क्या यह फल ? क्या इसीके लिए मैं भक्ति करता हू ?" उनको

ऐसा प्रतीत हुआ मानो भगवान् मान-सम्मानका यह फल उनके हाथमें रखकर उन्हे अपनेसे दूर हटा रहा है। उन्होने कहा—

"जानते हुए अन्तर, टालोगे मेरी झंझट?
यह ऐब तेरी है, पाडुरंग बहुत खोटी।"

"भगवन, तुम्हारी यह आदत अच्छी नही। तुम मुझे यह घुघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमें सोचते होगे कि इस आफतको निकाल ही दू न? परन्तु मैं भी कच्चे गुरुका चेला नही हूं। मैं तुम्हारे पाव जोरसे पकडकर बैठ जाऊगा। भक्ति ही भक्तका स्वधर्म है और भक्तिमें फलोंके अवान्तर काटे न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।"

पुण्डलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने मा-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवा-से प्रसन्न होकर पाडुरग उसकी भेंटके लिए भागे आये। परन्तु पुण्डलीक-ने पाडुरगके चक्करमें पडकर अपने उस सेवा-कार्यको छोडनेसे इन्कार कर दिया। अपने मा-बापकी यह सेवा उसके लिए हार्दिक ईश्वर-भक्ति थी। कोई लडका यदि दूसरोको लूट-खसोटकर अपने मा-बापको सुख पहुचाता हो, अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनोकी यह वस्तु भक्ति नही कहलायेगी। वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्तिमें फसा नही। उसने कहा कि परमात्मा जिस रूपको धारण कर मेरे सामने खडा हुआ है, क्या वह इतना ही है? उसका यह रूप दिखाई देनेसे पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी? वह भगवान्से बोला—

"भगवन्, आप स्वय मुझे दर्शन देनेके लिए आये है, पर मैं 'भी-सिद्धांत' को माननेवाला हू। आप ही अकेले भगवान् है ऐसा मैं नही मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् है और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मैं आपकी ओर ध्यान नही दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिये।" इतना कहकर उसने भगवान्के खडे रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वय उसी सेवा-कार्यमें निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसगको लेकर बडे कुतूहल और विनोद-पूर्वक कहते है—

"कैसा तू रे पागल प्रेमी, खड़ा रखा जो विट्ठल को।
ऐसा कैसा ढीठ साहसी, ईंट बिछाई विट्ठल को ?"

पुण्डलीकने जो यह 'भी-सिद्धात' का उपयोग किया, वह फल-त्यागकी युक्तिका एक अग है । फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गभीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है । इस कारण वह विविध तत्त्व-ज्ञानके जजालमें नही पडता और न अपना सिद्धात छोड़ता है । 'नान्यदस्तीति वादिन.'—'यही है, दूसरा बिलकुल नही, ऐसा विवाद वह उत्पन्न नही करता ।' 'यह भी सही है और वह भी सही है; परन्तु मेरे लिए तो यही सही है', ऐसी उनकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है। एक बार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उससे पूछा—"मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-बार छोडना आवश्यक है ?" साधुने कहा—"नही तो, देखो, जनक-जैसोने जब राजमहलमें रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुमको घर छोडनेकी क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे बोला—"स्वामीजी, घर-बार छोडे बिना क्या मोक्ष मिल सकता है ?" साधुने कहा—"कौन कहता है ? क्यो घरमे रहकर सेत-मेतमें ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक-जैसोने जो घर-बार छोडा तो क्या वे मूर्ख थे ?" बादको उन दोनो मनुष्योकी जब एक-दूसरेसे मुलाकात हुई तो दोनोमें बडा झगडा मचा । एक कहने लगा, "साधुने घर-बार छोडनेके लिए कहा है ।" दूसरे ने कहा—"नही, उन्होने कहा है कि घर-बार छोडने की आवश्यकता नही है ।" तब दोनो साधुके पास आये । साधुने कहा—"दोनोका कहना ठीक है । जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग । और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर । घर छोडनेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोडनेकी जरूरत नही है, यह भी सत्य है ।" इसीको कहते है 'भी-सिद्धात' ।

पुण्डलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंजिलतक पहुचनेवाला है । तुकारामको जो प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे, उससे पुण्डलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था । परन्तु वह उसपर भी मोहित नही हुआ । यदि हो जाता तो फस जाता । अत. एक बार साधनका

निश्चय हो जानेपर फिर अन्ततक उसका आचरण करते रहना चाहिए, फिर वीचमें प्रत्यक्ष भगवान्के दर्शन जैसी वाधा खडी हो जाय तो भी उसके लिए साघन छोडनेकी आवश्यकता न होनी चाहिए। देह वची है, तो वह सावनके लिए ही है। भगवान्का दर्शन तो हाथमे ही है, वह जाता कहा है?

"सर्वात्म-भाव मेरा, हां कौन छीन ले अव;
तेरी ही भक्ति में मन मेरा रंगा हुआ जव?"

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है। 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' इस गीता-वचनका अर्थ यहातक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी—अर्थात् अतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी, वासना मत रख। वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष है। मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना? जव फल-त्याग इस मजिलतक पहुच जाता है तव समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सव गई।

[१०]

शास्त्र वतला दिया, कला भी वतला दी, किन्तु इतनेसे सारा चित्र आंखोंके सामने खडा नही रहता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है; परन्तु सगुण भी साकार हुए विना व्यक्त नही होता। केवल निर्गुण जैसे हवामें रहता है, उसी तरह निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है, जिस गुणीमें गुण मूर्त्तिमान हुआ है उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धात वता दिये, उन सिद्धातोको आचरणमें लानेकी कला भी वतला दी तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खडा नही होता। अत मुझे अव इसके उदाहरण दीजिए, चरित्र सुनाइए। ऐसे पुरुषोंके लक्षण वताइए जिनकी वुद्धिमें साख्य-निष्ठा स्थिर हो गई है और फल-त्याग-रूपी योग जिनकी रग-रगमें व्याप्त हो गया है। जिन्हे हम स्थित-प्रज्ञ कहते हैं, जो फल-त्याग की पूरी गहराई दिखलाते हैं, कर्म-समाधिमें मग्न है, और निश्चयके महा-मेरु है, वे वोलते कैसे हैं, वैठते कैसे है, चलते कैसे है, यह सव मुझे वताइए। वह मूर्त्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचानें? यह सव कहिए, भगवन्!"

इसके लिए भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके अंतिम अठारह श्लोकोमें स्थित-प्रज्ञका गभीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोकोमें गीताके अठारह अध्यायोका सार ही एकत्र कर दिया है। स्थितप्रज्ञ गीताकी आदर्श मूर्ति है। यह शब्द भी गीताका अपना स्वतन्त्र है। आगे पाचवें अध्यायमें जीवन-मुक्तका, वारहवेंमें भक्तका, चौदहवेंमें गुणातीतका और अठारहवेंमे ज्ञान-निष्ठाका ऐसा ही वर्णन आया है, परन्तु स्थित-प्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उनमें सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये हैं। हजारो सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायकालीन प्रार्थनामे इन लक्षणोका पाठ करते है। यदि प्रत्येक गाव व प्रत्येक घरमे वे पहुंचाये जा सके तो कितना आनन्द हो! परन्तु पहले जब वे हमारे हृदयमें बैठे, तो वे बाहर अपने आप पहुच जायगे। नित्य पाठकी चीज यदि यान्त्रिक हो गई तो फिर वह चित्तमें अंकित होनेकी जगह उलटी मिट जायगी। पर यह दोष नित्य पाठका नही, मनन न करने का है। नित्य पाठके साथ-ही-साथ नित्य-मनन और नित्य-आत्म-परीक्षण आवश्यक है।

स्थित-प्रज्ञ यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य। यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परन्तु सयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे ? अत. स्थित-प्रज्ञको सयम-मूर्ति बताया है। बुद्धि तो हो आत्म-निष्ठ, और अतर-बाह्य इन्द्रिया बुद्धिके अधीन हो—यह है सयमका अर्थ। स्थित-प्रज्ञ सारी इन्द्रियोको लगाम चढाकर उन्हे कर्मयोगमें जोतता है। इन्द्रिय-रूपी बैलोसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भलीभाति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमे खर्च करता रहता है।

यह इन्द्रिय-सयम आसान नही है। इन्द्रियोसे बिलकुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बातें इतनी कठिन नही है। इससे उलटे इन्द्रियोको खुला छोड देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है। परन्तु जिस प्रकार कछुवा खतरेकी जगह अपने तमाम अवयवोको भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थानपर उनसे काम लेता है, इसी तरह विषय-भोगोसे इन्द्रियोको समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना, यह संयम कठिन है। इसके लिए

महान् प्रयत्नकी जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परन्तु इतना होनेपर भी ऐसा नही है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जाय ? नहीं, साधक को कभी निराश न होना चाहिए। वह साधककी अपनी सब युक्तिया काममें लाये और फिर भी कमी रह जाय तो उसमें भक्तिको जोड़ दे। यह बडा कीमती सुझाव भगवान्‌ने स्थित-प्रज्ञके लक्षणोंमें दिया है। हा, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दोंमें ही। परन्तु गाडीभर व्याख्यानोंकी अपेक्षा वह अधिक कीमती है, क्योंकि जहा भक्तिकी अचूक आवश्यकता है, वहीं वह उपस्थित की गई है। स्थित-प्रज्ञके लक्षणोका सविस्तर विवरण हमें आज यहा नहीं देना है। परन्तु हम अपनी इस सारी साधनामें भक्तिका अपना निश्चित स्थान कही भूल न जाय, इसके लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया। पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगत्‌में कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जानें। परन्तु सेवापरायण स्थितप्रज्ञके उदाहरणके रूपमें पुण्डलीककी मूर्ति सदैव मेरी आखोंके सामने आती रहती है और वह मैंने आपके सामने रख भी दी है।

अच्छा, अब स्थित-प्रज्ञके लक्षण पूरे हुए, दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ।
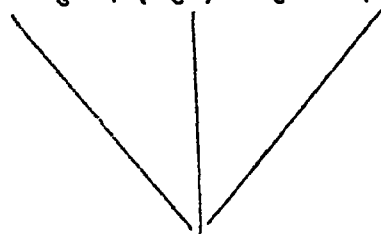
इसमेंसे ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्षके सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है ?

रविवार, २८-२-३२

तीसरा अध्याय

[११]

भाइयो, दूसरे अध्यायमें हमने सारे जीवन-शास्त्रपर निगाह डाली। अब इस तीसरे अध्यायमें इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण करना है। पहले हमने तत्त्वोका विचार किया, अब उनकी तफसीलमें जायंगे। पिछले अध्यायमें कर्म-योग-संबंधी विवेचन किया था। कर्मयोगमें महत्त्व-की वस्तु है फल-त्याग। कर्मयोगमें फल-त्याग तो है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि फिर फल मिलता भी है या नही ? अत तीसरे अध्यायमें कहते है कि कर्मफलोको छोड़नेसे कर्मयोगी उलटा अनत गुना फल प्राप्त करता है।

यहा मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है। उसका था स्वयंवर। सारे देव-दानव बडी आशा बाधे आये थे। लक्ष्मीने अपना प्रण पहले प्रकट नही किया था। सभा-मंडपमें आकर वह बोली—"मै उसीके गलेमें वरमाला डालूगी, जिसे मेरी चाह न होगी।" वे तो सब थे लालची। सो लक्ष्मी निस्पृह वर खोजने लगी। इतनेमे शेषनाग पर शान्त भावसे लेटी हुई भगवान् विष्णुकी मूर्ति उसे दिखाई दी। उसके गलेमें वरमाला डालकर वह आजतक उनके पैर दबाती हुई बैठी है। "जो न चाहे उसकी होती रमा दासी।" यही तो खूबी है।

साधारण मनुष्य अपने फलके आसपास काटेकी बाड लगाता है। पर इससे वह अनन्तरूपसे मिलनेवाला फल गंवा बैठता है। सासारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्पफल प्राप्त करता है; पर कर्मयोगी थोडा-सा करके भी अनन्त गुना। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता है। टॉल्स्टायने एक जगह कहा है—"लोग ईसामसीहके बलिदानकी बहुत स्तुति करते है। परन्तु ये ससारी जीव तो रोज न जाने कितना अपना खून सुखाते है, दौड-धूप करते है ! पूरे दो गधोका बोझ अपनी पीठपर

लादकर चक्कर काटनेवाले ये संसारी जीव, इन्हे ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति ! यदि ये इनमे आधे भी कष्ट भगवान्‌के लिए उठावें, तो सचमुच ईसासे भी बढ जायगे।"

ससारी मनुष्यकी तपस्या सचमुच बडी होती है, परन्तु वह होती है क्षुद्र फलोंके खातिर। जैसी वासना वैसा ही फल। अपनी चीजकी जो कीमत हम आकते हैं, उससे ज्यादा कीमत ससारमें नही होती। सुदामा चिउडा लेकर भगवानके पास गये। उस मुट्ठीभर चिउडेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो; परन्तु सुदामाको वे अमोल मालूम होते थे; क्योकि उनमें भक्तिभाव था। वे अभिमन्त्रित थे। उनके एक-एक कणमें भावना थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यो न हो, मत्रसे उसका मोल, उसका सामर्थ्य बढ जाता है। नोटका वजन भला कितना होगा ? उसे जलावें तो एक बूद पानी भी शायद ही गरम हो। पर उसपर एक मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोगमें भी यही सारी खूबी है। कर्मको नोट ही समझो। भावना-रूपी मुहरकी कीमत है, कर्म-रूपी कागजके टुकडेकी नही। एक तरहसे यह मै मूर्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हू। मूर्त्ति-पूजाकी कल्पनामें बडा सौंदर्य है। इस मूर्तिको कौन तोड-फोड सकता है। यह मूर्त्ति शुरुआतमें एक टुकडा ही तो थी। मैंने इसमें प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावनाके कोई टुकडे कर सकता है ? तोड-फोड पत्थरकी हो सकती है, भावनाकी नहीं। जब मै अपनी भावना मूर्त्तिमेंसे निकाल लूगा तभी वहा पत्थर बाकी बच रहेगा, व तभी उसके टुकडे हो सकते हैं।

कर्मका अर्थ हुआ पत्थर या कागजका टुकडा। मेरी माने कागजकी एक चिटपर दो-चार टेढी-मेढी सतरें लिखकर भेज दी व दूसरे किसी शख्सने पचास पन्नोमें अट-सट लेख लिखकर भेजा। अब वजन किसका ज्यादा होगा ? परन्तु माकी उन चार सतरोमें जो भाव है वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह रद्दी नही कर सकती। कर्ममें तरी चाहिए, भावना चाहिए। हम मजदूरके कामकी एक कीमत लगाते है और उसे मजूरी दे देते है। परन्तु दक्षिणाकी बात ऐसी नही है। दक्षिणा

भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके सबधमें यह प्रश्न नही उठता कि कितनी दी ? बल्कि मार्केकी जो बात देखी जाती है वह यह है कि उसमें तरी है या नही ? मनुस्मृतिमें एक बडी मजेदार बात कही है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमे रहकर पशुसे मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे ? प्राचीन समयमें पहले ही फीस नही ले ली जाती थी। बारह साल पढ चुकनेके बाद गुरुको जो कुछ देना हो सो दे दिया जाता था। मनु कहते है—'चढा दो गुरुजीको एकाध पत्र-पुष्प, दे दो एकाध पखा या खडाऊं, या पानीका कलसा।' इसे आप मजाक मत समझिए; क्योकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिह्न समझकर देना है। फूलमें भला क्या वजन है ? परन्तु उस भक्ति-भावमें ब्रह्माडके बराबर वजन है।

"रुक्मिणीने एक ही तुलसी-दलसे
तोला प्रभु गिरिधरको।"

सत्यभामाके मनभर गहनोसे काम नही चला। परंतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसीपत्र जब रुक्मिणी माताने पडलेमें डाल दिया तो सारा काम बन गया। वह तुलसी-पत्र अभिमन्त्रित था। अब वह मामूली नही रह गया था। कर्मयोगीके कर्मकी भी यही बात है।

ऐसी कल्पना करो कि दो व्यक्ति गगा-स्नान करने गये है। उनमेंसे एक कहता है—"लोग गगा-गगा जो कहते है, सो उसमें है क्या ? दो हिस्से हायड्रोजन, एक हिस्सा ऑक्सीजन, ये दो गैस एकत्र कर दिये, यही गंगा हो गई। इससे अधिक उसमें क्या है ?" दूसरा कहता है—"भगवान् विष्णुके पद-कमलोसे यह निकली है, शकरके जटाजूटमे इसने वास किया है, हजारो ब्रह्मर्षियो व राजर्षियोने इसके तीरपर तपस्या की है, अनत पुण्य-कृत्य इसके किनारे हुए है—ऐसी यह पवित्र गगामाई है।" इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमें नहाता है। वह ऑक्सीजन-हायड्रोजनवाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धि रूपी फल तो दोनोको मिला ही। परतु उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धि-रूपी फल भी मिला। यो तो गगामें बैल भी नहाये तो उसे देह-शुद्धि प्राप्त होगी। शरीरकी गदगी निकल जायगी। परंतु मनका मैल कैसे धुलेगा ? एकको देह-शुद्धिका

तुच्छ फल मिला, दूसरेको, उसके अलावा भी, चित्त-शुद्धि-रूपी अनमोल-फल मिला ।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवालेको व्यायामका फल तो मिलेगा ही । परंतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नही करता है, उपासनाके लिए करता है । इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, परतु बुद्धिकी प्रभा भी बढती है । आरोग्यके साथ ही, स्फूर्ति और प्रतिभा भी उसे सूर्य-नारायणसे मिलेगी ।

वही कर्म, परन्तु भावना-भेदसे उसमें अतर पड जाता है । परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्म-विकासक होता है, ससारी मनुष्यका कर्म आत्म-बधक सिद्ध होता है । कर्मयोगी यदि किसान होगा तो वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा । इससे उसकी पेट-पूर्ति अवश्य होगी; परतु वह इसलिए कर्म नही करता है कि उसकी उदर-पूर्ति हो । बल्कि भोजनको वह एक साधन मानेगा, जिससे उसका शरीर खेती करने योग्य रहता है । स्वधर्म उसका साध्य व भोजन उसका साधन हुआ । परतु जो दूसरा किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य व खेती-रूपी स्वधर्म उसका साधन होगा । ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है ।

दूसरे अध्यायमें, स्थितप्रज्ञके लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढंगसे कही गई है । जहा दूसरे लोग जाग्रत रहते है वहा कर्मयोगी सोता रहता है । और जहा दूसरे लोग निद्रित रहते है वहा कर्मयोगी जाग्रत रहता है । हम उदरपूर्तिके लिए जाग्रत रहेंगे, तो कर्मयोगी इस बातके लिए जाग्रत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्मके न जाय । वह खाता भी है तो मजबूर होकर । इस पेटके हाडेमें इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है । ससारी मनुष्यको भोजनमें आनन्द आता है, योगीको भोजन करते हुए कष्ट होता है । इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नही करेगा । सयमसे काम लेगा । एककी जो रात, वही दूसरेका दिन, और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात । अर्थात् जो एकका आनन्द वही दूसरेका दु ख, व जो एकका दु ख, वही दूसरेका आनन्द, हो जाता है । ससारी व कर्मयोगी—दोनोंके कर्म तो एक-से ही है, परन्तु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोडकर कर्ममें ही रमता है । ससारीकी तरह

योगी खायेगा, पियेगा, सोयेगा । परंतु तत्संबंधी उसकी भावना भिन्न होगी । इसलिए तो आरभमे ही स्थितप्रज्ञकी सयम-मूर्त्ति खडी कर दी गई है, जबकि गीताके अभी सोलह अध्याय बाकी हे ।

संसारी पुरुष व कर्मयोगी दोनोके कर्मोंका साम्य व वैषम्य तत्काल दिखाई दे जाता है । फर्ज कीजिए कि कर्मयोगी गोरक्षाका काम कर रहा है । तो वह किस दृष्टिसे करेगा ? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध मिलेगा, गायके बहाने मनुष्यसे निचली पशु-सृष्टिसे प्रेम सबंध जुडेगा । यह नही कि मुझे वेतन मिलेगा । वेतन तो कही गया नही है, परंतु असली आनंद, सच्चा सुख, इस दिव्य भावनामें है ।

कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरस कर देता है । तुलसी-को पानी पिलाये विना भोजन नही करेगे । यह वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-संबध जोडा है । तुलसीको भूखा रखकर मै कैसे पहले खालू ? इस तरह गायके साथ एक-रूपता, वनस्पतिके साथ एक-रूपता साधते-साधते हुए हमें सारे विश्वसे एक-रूपता साधनी हे । भारतीय-युद्धमें शाम होते ही सब लोग तो सायं-सध्या करनेके लिए चले जाते है, परतु भगवान् श्रीकृष्ण रथके घोडे छोडकर उन्हें पानी दिखाते, खुर्रा करते और उनके शरीरसे शल्य निकालते है। उस सेवामे भगवान्को कितना आनंद आता था। कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नही। अपने पीतांबरमे दाना-चंदी लेकर घोडोको देनेवाले उस पार्थ-सारथीका चित्र अपनी आखोके सामने खडा कीजिए और कर्मयोगके आनंदकी कल्पनाका अनुभव कीजिए। प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म। खादीके ही कामको लीजिये। कधेपर खादीकी गाठ रखकर फेरी करनेवाला क्या ऊब नही जाता ? नही, क्योकि वह इस विचारमें मस्त रहता है कि देशमें जो मेरे करोडो नगे-भूखे भाई-बहन है, उन्हे मुझे दो रोटी खिलाना है। उसका वह गज़ भर खादी वेचना समस्त दरिद्र-नारायणके साथ जुड़ा हुआ होता है।

[१२]

निष्काम कर्मयोगमें अद्भुत सामर्थ्य है । ऐसे कर्मसे व्यक्ति व समाज दोनोका परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करनेवाले कर्म-

योगीकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, परन्तु सदा सर्वदा उद्योग-रक्त रहनेके कारण उसका शरीर नीरोग व स्वच्छ रहता है और उसके इस कर्मकी बदौलत उसके समाजका भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योगक्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, इसलिए कि पैसा ज्यादा मिलेंगे, अफीम व तंबाकू नहीं बोयेगा; क्योंकि वह अपने कर्मका संबंध समाज-मंगलके साथ जोड़े हुए है। स्वधर्म-रूप कर्म समाज के लिए हितकारी ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहार-रूप कर्म समाजके हितके लिए है, वह कभी विदेशी कपडा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। खुदको भूलकर अपने आसपासके समाजसे समरस होनेवाले कर्मयोगी जिस समाजमें पैदा होते है, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि व सौमनस्य रहते हैं।

कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा चलकर देह व बुद्धि सतेज रहते हैं और समाजका भी कल्याण होता है। इन दो फलोंके अलावा चित्त-शुद्धिका भी महान् फल उसे मिलता है। 'कर्मणा शुद्धि.' ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है। परतु वह सब लोगोका मामूली कर्म नही है। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है, उससे चित्त-शुद्धि होती है। महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है। जाजलि नामक एक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहता है—"भैया, इस तराजूकी डंडीको सदा सीधा रखना पडता है।" इस बाह्यकर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा सरल हो गया। छोटा बच्चा दुकानमें आजाय या जवान आदमी, उसकी डडी सबके लिए एक-सी रहती है, न ऊंची न नीची। उद्योगका मन पर भी परिणाम होता है। कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और निर्मल चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिंब पडता है। अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे कर्मयोगी अंतको ज्ञान प्राप्त करते हैं। तराजूकी डडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली। सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरोंके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मैं दूसरोंके सिरका तो मैल निकालता हूं, परतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका, भी मैल मैंने निकाला है?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे

उस कर्मसे सूझने लगी। खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयकी वासना-विकार-रूपी कचरा निकालनेकी बुद्धि उपजती है। कच्ची मिट्टीको रौंद-रौंदकर समाजको पक्की हंडिया देनेवाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे अपने जीवनकी भी हंडिया पक्की बना लेनी चाहिए। इस तरह वह हाथमें थपकी लेकर 'हंडिया कच्ची है या पक्की', यों संतोकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जिन-जिन कर्मोको या धन्धोको करता है उनकी भाषामें से ही उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है। वे कर्म क्या थे, उनकी अध्यात्म-शाला ही थे। उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे। वे दीखनेमें वैसे व्यावहारिक ही दीखते थे, परतु भीतरसे वे वास्तवमें आध्यात्मिक थे।

कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है, और वह है समाजको एक आदर्शका मिलना। समाजमें यह तो है ही कि यह पहले जन्मा है व यह बादको। जिनका जन्म पहले हुआ है, उनके जिम्मे बादमें पैदा होने वालोके लिए उदाहरण बन जानेका काम रहता है। बड़े भाई पर छोटे भाईको, मा-बाप पर बेटे-बेटीको, नेता पर अनुयायियोको, गुरुपर शिष्यको अपनी कृतिके द्वारा अपना उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है। ऐसा उदाहरण कर्मयोगियोके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है; क्योकि कर्ममें ही उसे आनंद मालूम होता है। इससे समाजमें दंभ-ढोग नही बढता। कर्मयोगी खुद यद्यपि स्वयं-तृप्त होता है तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नही जाता। तुकाराम कहते है—"भजनसे भगवान् मिल गया तो क्या इसलिए मैं भजन छोड दूं? भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया।"

पहले जोड़ा संत संग। तुका हुआ पांडुरंग।
भजनका तांता टूटे क्यों? मूल स्वभाव छूटे क्यो?

कर्मकी सीढीसे चढकर शिखरतक पहुंच गये। परंतु कर्मयोगी तब भी सीढी नही छोडता। वह उससे छूट ही नही सकती। उसकी

इंद्रियोको उन कर्मोको करनेकी ऐसी सहज आदत ही पड जाती है। इस तरह स्वधर्म-कर्म-रूपी सेवाकी सीढीका महत्त्व वह समाजको जचाता रहता है।

समाजसे ढोगका मिटना बहुत ही बडी चीज है। ढोग-पाखंडसे समाज डूब जाता है। ज्ञानी यदि खामोश बैठ जाय, तो उसे देखकर दूसरे भी हाथपर हाथ रखकर बैठने लगेंगे। ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होनेके कारण आतरिक सुखमे तल्लीन रहकर खामोश रहेगा, परतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायगा। एक अतस्तृप्त होकर स्वस्थ है, तो दूसरा मनमें कुढता हुआ भी स्वस्थ है। ऐसी स्थिति भयानक है। इससे दंभ, पाखड बढगा। अत. सारे सत शिखर पर पहुंचकर भी साधनका पल्ला बड़ी सतर्कतासे पकडे रहे, आमरण स्वकर्माचरण करते रहे। माता बच्चोके गुड्डे-गुड्डीके खेलोमे रस लेती है। वह यह समझते हुए भी कि ये बनावटी है, उनके खेलोमें शरीक होकर उनमें रुचि उत्पन्न करती है। मा यदि उन खेलोमें शरीक न हो, तो बच्चोको उसमें मजा नही आयगा। कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड देगा तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड देंगे, हालाकि मनमें भूखे व निरानद रहेगे।

अत' कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह नही मानता कि मे कोई विशेप मनुष्य हू। औरोकी अपेक्षा अनत गुना परिश्रम वह करता है। अमुक कर्म 'पारमार्थिक है, ऐसी छाप लगानेकी जरूरत नही है। कर्मका विज्ञापन करनेकी जरूरत नही है। यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममें औरोकी अपेक्षा सौ गुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलनेपर भी तिगुना काम होने दो, समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमें दिखने दो। चंदनकी सुगध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोडनेसे ऐसे अनत फल प्राप्त करेगा, उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर व बुद्धि सतेज रहेंगे। जिस समाजमें वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा और समाजसे ढोग, पाखड मिटकर जीवन-का पवित्र आदर्श हाथ लगेगा। कर्मयोगकी यह अनुभव-सिद्ध महिमा है।

[१३]

कर्मयोगी अपना कर्म औरोकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा; क्योकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है। मैंने भगवान्‌का पूजन किया। फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमें पाया। परतु क्या यह नैवेद्य उस पूजाका फल है? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा उसे प्रसादका अश तो तुरत मिलेगा ही। परतु जो कर्मयोगी है वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शन-रूपी फल चाहता है। वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोडी नही समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्मकी कीमत कम आकनेके लिए तैयार नही है। स्थूल नापसे वह अपने कर्मोको नही नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है, उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेतीकी एक कहावत है---'गहरा बो पर गीला बो'। महज गहरे जोतनेसे काम नही चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई व तरी दोनों होगी, तो दाना बडा मनके बराबर पडेगा। अत' कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमें ईश्वर-भक्ति, ईश्वरार्पणता-रूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थके सबधमें कुछ वाहियात कल्पनाएं हमारे अदर फैल गई है। लोग समझते है कि जो परमार्थी हो गया उसे हाथ-पाव हिलानेकी जरूरत नही, काम-काज करनेकी जरूरत नही। कहते है, जो खेती करता है, खादी बुनता है, वह कहाका परामार्थी? परतु कोई यह नही पूछता कि जो भोजन करता है, वह कैसा परमार्थी? कर्मयोगियोका परमेश्वर तो कही घोडोको खुर्रा करता है, राजसूय यज्ञके समय जूठी पत्तलें उठाता है, जंगलमें गायें चराने जाता है। वह द्वारकानाथ यदि फिर कभी गोकुल-मे गया तो ठुमक-ठुमक चलकर बंसी बजाते हुए गायें चरावेगा। सो संतोने तो घोडोको खुर्रा करनेवाला, गाये चरानेवाला, रथ हाकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपनेवाला, कर्मयोगी परमेश्वर खडा किया है और खुद सत भी कोई दरजीका, तो कोई कुम्हारका, कोई बुनाईका, तो कोई मालीका, कोई धान कूटने-पीसने का, तो कोई बनियेका, कोई नाईका, तो कोई ढोर घसीटनेका काम करते-करते मुक्त पदवीको प्राप्त हुए है।

ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोंसे डिगता है। इस सिलसिलेमें हमें इंद्रियोंका विशिष्ट स्वभाव—खासियत—ध्यानमें रखना चाहिए। हमारी इंद्रियां सदैव—"यह चाहिए और वह नहीं चाहिए"—ऐसे द्वंद्वोंसे घिरी रहती हैं। जो चाहिए उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो न चाहिए उसके प्रति मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्यको नोच-नोचकर खाते हैं। कर्म-योग वैसे कितना बढ़िया, कितना रमणीय, कितना अनंत फलदायी है! परंतु ये काम-क्रोध 'इसे ले व इसे छोड़' ऐसा झगड़ा हमारे गले बांधकर दिन-रात हमारे पीछे पड़े रहते हैं। अतः भगवान् इस अध्यायके अंतमें खतरेकी घंटी बजाते हैं कि इनका संग छोड़ो, इनसे बचो। स्थित-प्रज्ञ जिस प्रकार संयमकी मूर्त्ति होता है, उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

रविवार, ६-३-३२

चौथा अध्याय

[१४]

भाइयो, पिछले अध्यायमे हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया है। स्वधर्मको टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्का-मता-रूपी फलको अशक्य ही समझो। स्वदेशी माल बेचना व्यापारका स्वधर्म है। परतु इस स्वधर्मको छोडकर जब वह सात समुदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहु-तेरा नफा मिले। तो फिर उस कर्ममें निष्कामता कहासे आयेगी? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यत आव-श्यकता है। परतु यह स्वधर्माचरण भी 'सकाम' हो सकता है। अहिंसाकी ही बात हम लें। जो अहिंसाका उपासक है, उसके लिए हिंसा तो वर्ज्य है। परंतु यह सभव है कि ऊपरसे अहिंसक होते हुए भी वह वास्तवमें हिंसामय हो; क्योंकि हिंसा मनका एक धर्म है। महज बाहरसे हिंसा-कर्म न करनेसे ही मन अहिंसामय हो जायगा सो बात नही। तलवार हाथमें लेनेसे हिंसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है। परतु तलवार छोड देनेसे मनुष्य अहिंसामय होता ही है, सो बात नही। ठीक यही बात स्वधर्माचरणकी है। निष्कामताके लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परंतु यह तो निष्कामताका आरंभ-मात्र हुआ। इससे हम साध्यतक नही पहुच गये।

निष्कामता मनका धर्म है। इसकी उत्पत्तिके लिए एक स्वधर्मा-चरण रूपी साधन ही काफी नही है। दूसरे साधनोका भी सहारा लेना पडेगा। अकेली तेल-बत्तीसे दिया नही जल जाता। उसके लिए ज्योतिकी जरूरत होती है। ज्योति होगी तो ही अंधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगावें? इसके लिए मानसिक सशोधनकी जरूरत है। आत्म-परीक्षणके

द्वारा चित्तकी मलिनता—कूडा-कचरा—धो डालना चाहिए। तीसरे अध्यायके अंतमें यही मार्गकी बात भगवान्ने बताई थी। उसीमेंसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है।

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही हैं, परन्तु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएं सूचित नहीं होती हैं। कर्मसे वहा मतलब स्वधर्माचरणसे है। परन्तु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है। वह है काम व क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गंगाजलकी तरह निर्मल व प्रशांत न हो जाय तबतक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त-संशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायं, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म,' 'विकर्म' व 'अकर्म,' ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बडे महत्त्वके है। 'कर्म'का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी—स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। बाहरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं, परतु उस बाहरी सिर झुकानेकी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अंतर्बाह्य—भीतर व बाहर—दोनों एक होना चाहिए। बाहरसे मैं शिव-पिंडपर सतत जल-धारा छोडकर अभिषेक करता हू। परतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिंतनकी धार भी अखंड न चलती रहती हो तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही ? ऐसी दशामें वह शिव-पिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही। पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अदरसे चित्त-शुद्धि रूपी कर्मका भी संयोग हो।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म'-पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग'की बनिस्बत 'अहिंसात्मक' विशेषणको ही अधिक महत्त्व है। अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलंबन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरण रूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुडा है, तो उसे धोखा समझना चाहिए।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते है, वे स्वधर्मका ही आचरण करते है। जब लोग गरीव, कगाल, दु:खी व मुसीवतमें होते है, तब उनकी सेवा करके उन्हे सुखी वनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गए है। लोक-सेवा करते हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी सभावना है। अपने कुटुवकी सेवा करते हुए जितना अहकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतने सव लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करते है और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमे आजकलकी लोक-सेवा मडलियोके जमघटमें भी हो जाता है।

[१५]

कर्मके साथ मनका मेल होना चाहिए। इस मनके मेलको ही गीता 'विकर्म' कहती है। वाहर का स्वधर्म रूप सामान्य कर्म और यह आतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरतके अनुसार जुदा-जुदा होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमें वताये गए है। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायसे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसधानका, योग जव हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामताकी ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अंदर आती रहती है। यदि शरीर व मन जुदा-जुदा चीजें है तो साधन भी दोनोके लिए जुदा-जुदा ही होगे। जव इन दोनोका मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ ऐसा न हो जाय, इसलिए शास्त्र-कारोने दुहरा मार्ग वताया है। भक्तियोगमें वाहरसे तप व भीतरसे जप वताया है। उपवास आदि वाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप फिजूल गया। तप संबंधी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिए। उपवास शब्दका अर्थ ही है, भगवानके पास बैठना। इसलिए कि परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, वाहरी भोगोका दरवाजा बद करनेकी जरूरत है। परतु वाहरसे विषयभोगोको

छोड़कर यदि मनमें भगवान्‌का चिंतन न होता, तो फिर इस वाहरी उपवासकी क्या कीमत रही ? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीनेकी चीजोंका चिंतन करें तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो गया। यह जो मनसे भोजन हुआ, मनमें जो विषय-चिंतन रहा, इससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं। तंत्रके साथ मंत्र होना चाहिए। कोरे बाह्यतंत्रका कोई महत्त्व नहीं है और न केवल कर्महीन मंत्रका भी कोई मूल्य है। हाथमें भी सेवा हो व हृदयमें भी सेवा हो। तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी।

यदि बाह्य कर्ममें हृदयकी आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायगा। उसमें निष्कामता रूपी फूल-फल नहीं लगेंगे। फर्ज कीजिए कि हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की, परंतु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमें कोमल दया-भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उसमे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उसमें यदि मनका सहयोग न हो तो उससे अहंकार पैदा होगा। 'मैंने आज उसका काम किया है, उसे जरूरतके वक्त मेरी सहायता करनी चाहिए। मेरी तारीफ करनी चाहिए। मेरा गौरव करना चाहिए।'—आदि अपेक्षाएं मनमें उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे—हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है। उसके ऐसे स्वभावसे ऐसा सेवक, जिसके मनमें सच्चा सेवा-भाव नहीं होता, ऊब जायगा।

कर्मके साथ जब आंतरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ, तो निष्कामता आती है। बारूदमें बत्ती लगानेसे धड़ाका होता है। उस बारूदमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्मको बंदूककी बारूदकी तरह समझो। उसमें विकर्मकी बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक विकर्म आकर नहीं मिलता, तबतक वह कर्म जड़ है। उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहां विकर्मकी चिनगारी उसमें गिरी, कि फिर

उस कर्ममें जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेवमें पडी रहती है, हाथमे उछलती रहती है, पर जहा उसमें बत्ती लगी कि शरीरके टुकड़े-टुकड़े हुए। स्वधर्माचरणका अनत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमें विकर्मको जोडिये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे वनाव-विगाड होते है। उसके स्फोटसे अहकार, काम, क्रोधके प्राण उड जायगे व उसमेंसे उस परम-ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

कर्म ज्ञानका पलीता है। एक लकडीका वडा-सा टुकड़ा कही पडा है। उसे आप जला दीजिए। वह जगमग अंगार हो जाता है। उस लकडी और उस आगमें कितना अतर है ? परंतु उस लकडीकी ही वह आग होती है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे, कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। मा वच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। एक पीठ है जिसपर एक हाथ योही इधर-उधर फिर गया। परंतु इस एक मामूली कर्मसे उन मा-वच्चेके मनमें जो भावनाए उठी, उनका वर्णन कौन कर सकेगा ? यदि कोई ऐसा समीकरण विठाने लगेगा कि इतनी लवी-चौडी पीठपर इतने वजनका एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनंद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिरानेकी यह क्रिया विलकुल क्षुद्र है, परतु उसमें माका हृदय उडेला हुआ है। वह विकर्म उडेला हुआ है। इसीसे वह अपूर्व आनद प्राप्त होता है। तुलसी रामायणमे एक प्रसंग आया है। राक्षसोंसे लडकर वदर आते है। वे जख्मी हो गए है। वदनसे खून वह रहा है। परतु प्रभु रामचंद्रके एक वार प्रेम-पूर्वक दृष्टिपात-मात्रसे उन बंदरोकी वेदना काफूर हो गई। अव यदि दूसरे मनुष्यने रामकी उस समय की आख व दृष्टिका फोटो लेकर किसीकी ओर उतनी आखें फाडकर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पडा होता ? वैसा करनेका यत्न करना हास्यास्पद है।

कर्मके साथ जब विकर्मका जोड मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म निर्माण होता है। लकड़ी जलनेपर राख हो जाती है। पहलेका वह इतना वडा लकडीका टुकडा; अतमें चिमटी भर वेचारी राख रह जाती है उसकी ! खुशीसे उसे हाथमें ले लीजिए और सारे वदनपर मल लीजिये । इस तरह कर्ममें विकर्मकी ज्योति जला

देनेसे अंतमें अकर्म हो जाता है। कहा लकडी व कहा राख? क केन संबंध.! उनके गुण-धर्मोमें अब बिलकुल साम्य नही रह गया। परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ीके लट्ठकी ही है।

कर्ममें विकर्म उडेलनेसे अकर्म होता है। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नही होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नही मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते है। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नही। मा बच्चेको पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नही सहेगा। मा मारती है, फिर भी वह उसके आँचलमे मुह छिपाता है; क्योकि माके बाह्य कर्ममें चित्त-शुद्धिका मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भावसे है। उस कर्ममें उसका स्वार्थ नही है। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण, कर्मका कर्मत्व उड जाता है। रामकी वह दृष्टि, आतरिक विकर्मके कारण, महज प्रेम-सुधा-सागर हो गई थी, परतु रामको उस कर्मका कोई श्रम नही हुआ था। चित्त-शुद्धिसे किया कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नही रहता, नही तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदयपर पडता है। यदि यह खबर आज दो बजे उडी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जानेवाले है तो फिर देखो, कैसी भीड चारो ओर हो जाती है। चारो ओर हलचल व गडबड मच जाती है। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे मानो व्यग्र रहते है। कर्म हमको चारो ओरसे घेर लेता है, मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्रका प्रवाह जोरसे जमीनमें धसकर खाडिया बना देता है, उसी तरह कर्मका यह जजाल चित्तमें घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दु.खके द्वद्व निर्माण होते है। सारी शाति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया। परतु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्तपर हावी हो जाता है। फिर उसकी नीद हराम हो जाती है।

परतु ऐसे इस कर्ममें यदि विकर्मको मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नही मालूम होता। मन ध्रुवकी तरह शात, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्ममें विकर्म

डाल देनेसे वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्मको करके फिर उसे पोछ दिया हो।

[१६]

यह कर्मका अकर्म कैसे होता है ? यह कला किसके पास मिलेगी ? संतोके पास। इस अध्यायके अंतमें भगवान् कहते हैं—"सतोके पास जाकर बैठो व उनसे शिक्षा लो।" कर्मका अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमें भाषाका अंत आ जाता है। उसका सही खयाल लाना हो तो सतोके पास जाना चाहिए। परमेश्वरका वर्णन भी तो है—

"शान्ताकारं भुजगशयनम्"

परमेश्वर हजार फनोके शेषनाग पर सोते हुए भी शात है। इसी तरह संत हजारो कर्म करते हुए भी रत्ती भर क्षोभ-तरग अपने मानस सरोवरमें नही उठने देते। यह खूबी सतोके गाव गये विना समझमें नही आ सकती।

वर्त्तमान कालमें पुस्तकें बहुत सस्ती हो गई है। एक-एक दो-दो आनेमें गीता, 'मनाचे श्लोक'[1], आदि मिल जाते है। गुरुओकी भी कमी नही। शिक्षा उदार व सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञानकी खैरात ही बाटते है। परतु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नही आती। पुस्तकोंके इस पहाडको देखकर सत-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा दिखाई देने लगी है। पुस्तकोकी मजबूत कपड़ेकी जिल्दके बाहर ज्ञान नही आता। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभग हमेशा याद आ जाया करता है:

"काम क्रोध के खड़े है पहाड़
रहा है अनंत पल्ले पार।"

काम-क्रोध रूपी पहाड़ोके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयो व ग्रथालयोके चारो ओर छाजानेपर भी अभीतक मनुष्य सब जगह सस्कार-हीन

---

[1] स मर्थ रामदास-कृत मराठी पुस्तक।

व ज्ञान-हीन बंदर ही दिखाई देता है। बड़ौदामें बहुत बडी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बड़ी-सी पुस्तक लेकर जा रहे थ। उसमें तस्वीरें थीं। वे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अंग्रेजी पुस्तक है। मैंने पूछा—"कौन-सी पुस्तक है?" उन्होंने पुस्तक आगे बढा दी। मैंने कहा—"यह तो फ्रेंच है," तो उन्होंने कहा—"अच्छा, फ्रेंच आ गई?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढिया तस्वीरें, सुंदर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी रही!

अंग्रेजीमें हर साल कोई दस हजार नई किताबें तैयार होती है। यही हाल दूसरी भाषाओंका समझिए। ज्ञानका इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्यका दिमाग अबतक खोखला ही कैसे बना हुआ है? कोई कहते हैं, स्मरणशक्ति कमजोर हो गई है। कोई बताते हैं, एकाग्रता नहीं होती। कोई जवाब देते हैं कि जो कुछ पढते हैं सब ही सच मालूम होता है। और कोई कहते हैं, अजी, विचार करनेको फुरसत ही नही मिलती! श्रीकृष्ण कहते है—"अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनाकर तुम्हारी बुद्धि चक्करमें पड़ गई है। वह जबतक स्थिर न होगी, तबतक तुम्हे योग-प्राप्ति नही हो सकती। सुनना व पढना अब बन्द करके संतोंकी शरण ले! वहासे जीवन-ग्रंथ पढनेको मिलेगा। वहाका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-संशय' हो जायगा। वहां जानेसे तुम्हे मालूम हो जायगा कि लगातार सेवा-कर्म करते हुए भी मन कैसे अत्यन्त शात रह सकता है; बाहरसे कर्मका जोर रहते हुए भी हृदयमें कैसे अखंड सगीत रूपी सितार लगाई जा सकती है।"

रविवार, १३-३-३२

पांचवां अध्याय

[१७]

ससार बडी भयानक वस्तु है। बहुत बार उसे समुद्रकी उपमा देते है। समुद्रमें जहा देखिए तहा पानी-ही-पानी दिखाई देता है। वही हाल ससारका है। जिधर देखो उधर संसार हरा-ही-भरा दीख पडता है। कोई यदि घर-बार छोडकर सार्वजनिक सेवामे लग जाता है, तो वहा भी उसके मनमें ससार अपना पडाव डाले बैठा ही मिलता है। कोई यदि गुफामे जाकर बैठ जाय तो भी, उसके वित्ते भर लंगोटीमें, संसार ओत-प्रोत भरा रहता है। वह लगोटी उसकी ममताका सार-सर्वस्व बन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते है, वैसे ही उस छोटी-सी लगोटीमे भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-जंजाल तोड दिया, विस्तार कम कर दिया, इतनेसे ससार कम नही हो जाता। १०/२५ कहो या २/५ कहो, दोनोका मतलब एक ही है। चाहे घरमें रहो या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। संसार लेशमात्र भी कम नही होता। दो योगी भले ही हिमालयकी गुफामें जाकर बैठ जायं, पर वहा भी एक-दूसरेकी कीर्त्ति उनके कानोमे पड गई तो वे जल-भुन जायंगे। सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमे भी ऐसा ही दृश्य दिखाई दे जाता है।

इस प्रकार यह संसार-प्रपंच हाथ धोकर हमारे पीछे पडा हुआ होनेसे स्वधर्माचरणकी मर्यादामें रहते हुए भी ससारसे पिंड नही छूटता। बहुतेरा उखाड़-पछाड करना छोड दिया, और झंझटें भी कम कर दी व अपना ससार-प्रपंच भी नाम-मात्रका रख दिया, तो भी वहां ममत्व पीछा नही छोडता। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते है व कभी बडे, वैसे ही यह ससार अपना रूप बनाता है। छोटे हो या वड़े, आखिर वे है तो राक्षस ही। ऐसे ही दुर्निवारत्व चाहे महलोमें हों या झोपडीमें, है एक-सा ही।

स्वधर्मका बंधन डालकर यद्यपि संसारको समतोल रखा, तो भी वहा अनेक झगडे पैदा हो जायंगे और तुम्हारा जी वहामें ऊब उठेगा। वहा भी अनेक सस्था व अनेक व्यक्तियोंसे तुम्हारा सबंध बधेगा और तुम ऊब उठोगे। तुम कहने लगोगे—कहां इस आफतमें आ फसा! लेकिन तुम्हारा मन कसौटी पर भी तभी चढेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलिप्तता नही आजाती। कर्मकी व्याप्तिको कम करना अलिप्त होना नहीं है।

तो फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो? उसके लिए मनोमय प्रयत्न होना चाहिए। मनका सहयोग जबतक न हो, तबतक कोई भी बात सिद्ध नही हो सकती। मा-बाप किसी सस्थामें अपना लडका भेज देते है। वह वहा सवेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है। चाय नही पीता। परंतु घर आते ही दो-चार दिनोमें वह सबकुछ छोड देता है। ऐसे अनुभव हमें होते है। मनुष्य कुछ मिट्टीका ढेला तो है नही। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते है, वह उसके मनमें बैठना तो चाहिए न? मन यदि आकारमें नही बैठा, तो बाहरकी यह सारी तालीम व्यर्थ हो गई! इसलिए साधनमें मानसिक सहयोगकी बहुत आवश्यकता है।

साधनके रूपमें बाहरसे स्वधर्माचरण व भीतरसे मनका विकर्म, दोनो बातें चाहिए। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नही होती। प्रात कालके प्रशात समयमें हमें अपना मन अत्यत शांत मालूम होता है। परतु जहा जरा बच्चा रोया नही कि हमारी उस मन.शातिकी असली कीमत हमें मालूम हो जाती है। अत. कर्मको टालनेसे काम नही चलेगा। बाह्य कर्मोसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ दीखता है। परतु उसमें पत्थर डालिए, तुरत ही अंदरकी गदगी ऊपर तैर आवेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अत सरोवरमें नीचे घुटनेभर गदगी जमा रहती । बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखाई देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आगया। तो यह गुस्सा कही बाहरसे आ गया? वह तो अंदर ही था। मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते हैं—"सफेद खादी नही चाहिए, वह मैली हो जाती ह। रंगीन खादी मैली नही होती।" पर मैली तो वह भी होती है। हा, अलबत्ता मैली दिखाई नही देती। सफेद खादीकी मैल दीख जाती है। वह कहती है—"मै मैली हूं, मुझे घो डालो।" यह मुहसे बोलनेवाली खादी लोगोंको पसद नही आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी है, स्वार्थी है, या और कुछ है। कर्म वह आइना है, जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। अत- हमें कर्मका असहानमद होना चाहिए। आइनेमें यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे, तो क्या हम आइनेको फोड़ डालेंगे ? नही, उलटा उसका अहसान मानेंगे। मुह धो-धाकर फिर उसमें चेहरा देखेंगे। इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका पाप-दोष वाहर आता है, तो क्या इसलिए हम कर्मसे बचना चाहेंगे ? कर्मसे ही यदि हम वचते रहें तो क्या उससे हमारा मन निर्मल हो जायगा ? अतः कर्म करते रहें व निर्मल होनेका उत्तरोत्तर उद्योग करते रहें।

कोई मनुष्य जाकर गुफामें बैठ गया। वहा उसका किसीसे भी संपर्क नही होता। वह समझने लगता है कि अव मैं बिलकुल शांतमति हो गया; परतु गुफा छोडकर उसे किसीके यहा भिक्षा मागने जाने दीजिए। वहा कोई खिलाडी लड़का दरवाजेकी सांकल खटखटाता है। वह वालक तो उस नाद-ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है, परंतु उस भोले-भाले बच्चेका वह सांकल बजाना उस योगीको सहन नही होता। वह कहता है—"बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है!" गुफामें रहकर उसने अपने मन को इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नही होता। जरा खट-खट आवाज आई कि बस, उसकी शाति रफूचक्कर होने लगी। मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नही।

मतलब यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बडे कामकी चीज है। जब दोष दिखाई देंगे, तो वे दूर भी किये जा सकेंगे। यदि दोष मालूम ही न हो, तो प्रगति रुकी, विकास खतम। कर्म करेंगे तो दोष दिखाई देंगे। उन्हे दूर करनेके लिए विकर्मकी तजवीज करनी पडती है। भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगे,

तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें, काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहें, यह बात समय पाकर समझमें आ जायगी। कर्मको निर्मल रखनेका सतत प्रयत्न होने लगा तो फिर, आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एक के बाद एक सहजतासे होने लगते हैं, तो फिर सहसा यह पता भी नहीं लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही अकर्म कहते हैं, यह हमने चौथे अध्यायमें देख लिया है। 'कर्मका अकर्म' कैसे होता है, सो सत चरणोमें बैठनेसे मालूम होगा, यह भी भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अखीर-अखीरमें बता दिया है। इस अकर्म स्थिति का वर्णन करनेके लिए वाणी अपर्याप्त है।

[१८]

कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितनी तकलीफ होती है। किंतु हमें उसकी इस लीलासे आनद होता है। हम कहते है, देखो, लल्ला चलने लगा। परतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है, व बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता। यही बात खानेके सबधमें। हम छोटे बच्चेको अन्नप्राशन कराते है, मानो खाना कोई बडा काम हो। परतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है तो कितना कष्ट होता है! पहले दम भर आता है, पर बादमें तो उलटे जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है तो कहता है कि चलो, जरा तैर आवें तो थकान निकल जाय। अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर यों-ही सहज भावसे पानीपर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब कर्मोमें व्यस्त रहता है तो श्रम मालूम होता है, परंतु कर्म जब सहज होने लगते है तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनंदमय हो जाता है।

कर्मको अकर्म कर देना हमारा ध्येय है, इसके लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करना है। उन्हें करते हुए दोष नजर आवेंगे, उन्हें दूर करनेके

लिए विकर्मका पल्ला पकडना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममे त्रास या कष्ट बिलकुल नही मालूम होता। हजारो कर्म हाथोसे होते रहनेपर भी मन निर्मल व शात रहता है। आप आकाशसे पूछिये, "भाई आकाश, क्या तुम गरमीसे झुलस नही जाते, पानीसे भीग नही जाते? सर्दीसे ठिठुर नही जाते?" तो वह क्या जवाब देगा? वह कहेगा—"मुझे क्या कुछ होता है, इसका फैसला तुम करो, मै कुछ नही जानता।"

"पागल नंगा है या पहने।
इसको लोग देखकर जानें॥"

पागल नंगा है या कपडे पहने है, इसका फैसला लोग करे। पागलको इसका कुछ पता नही रहता।

इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरण-संबंधी कर्म, विकर्मकी सहायतासे निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते, स्वाभाविक हो जाते है। बडे-बडे विकट अवसर भी फिर मुश्किल नही मालूम होते। कर्मयोगकी यह ऐसी कुजी है। कुजी न हो तो तालेको तोडते-तोडते हाथोमें छाले हो जायंगे। परंतु कुजी हाथ लग जानेपर पल भरमे सबकुछ खुल जायगा। कर्मयोगकी इस चाबीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते है। यह कुंजी मनोजयसे मिलती है। अत. मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखाई देगे, उन्हे धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मोंकी झंझट नही मालूम होती। कर्मका अहकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते है। क्लेशोका अनुभवतक नही होता। कर्मका भी भान बाकी नही रहता।

एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा—"अमुक सख्या राम-नामका जप करना है। तुम भी इसमें शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे।" वह शख्स अपनी बुद्धिके अनुसार उद्योग कर रहा था। उसे बुरा कहनेकी दृष्टिसे यह नही कह रहा हू। परंतु राम-नाम कुछ गिनने या नापनेकी चीज नही है। मा बच्चेकी सेवा करती है तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है? यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगी

तो 'थैंक्यू'. कहकर उसके ऋणसे बरी हो सकेंगे। परंतु माता रिपोर्ट नही लिखती। वह तो कहती है—"मैंने क्या किया? मैंने कुछ नही किया। यह क्या मेरे लिए कोई बोझ है ?" विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उडेलकर जब मनुष्य कर्म करता है, तब वह कर्म रहता ही नही, अकर्म हो जाता है। वहां क्लेश, कष्ट, अटपटा जैसा कुछ नही रहता।

इस स्थितिका वर्णन नही किया जा सकता। एक धुंधली-सी कल्पना कराई जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मनमें क्या कभी यह आता है कि मैं अंधेरा मिटाऊंगा, पछियोंको उडनेकी प्रेरणा करूंगा, लोगोंको कर्म करनेमें प्रवृत्त करूंगा ? वह जहां उगता है, वहीं खडा रहता है। उसका अस्तित्व-मात्र ही विश्वको गति देता है। परंतु सूर्यको उसका पता नहीं। आप यदि सूर्यसे कहेंगे—"हे सूर्यदेव, आपके अनंत उपकार हैं, आपने कितना अंधेरा दूर कर दिया।" तो वह चक्करमें पड जायगा। कहेगा, "जरा-सा अंधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मैं दूर कर सका तो मैं कहूंगा कि यह मेरा कर्त्तव्य है।" क्या सूर्यके पास अंधेरा ले जाया जा सकेगा ? सूरजके अस्तित्वसे अंधकार दूर होता होगा, उसके प्रकाशमें कोई सद्ग्रंथ पढता होगा, तो कोई असद्ग्रंथ भी पढ लेगा, कोई आग लगा देगा तो कोई किसीका भला कर रहा होगा। परंतु इस पाप-पुण्यका जिम्मेदार सूर्य नही है। सूर्य कहता है—"प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा तो फिर होगा क्या ? मैं जानता ही नहीं कि मैं प्रकाश दे रहा हूं। मेरा होना ही प्रकाश है। प्रकाश देनेकी क्रियाका कष्ट मैं नही जानता। मुझे नही प्रतीत होता कि मैं कुछ कर रहा हूं।"

सूर्यका यह प्रकाश-दान जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही हाल संतोंका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी मनुष्यसे कहें कि "आप महात्मा सत्यवादी हैं" तो वह कहेगा— "मैं यदि सत्यपर न चलूं, तो करूंगा क्या ? मैं विशेष क्या करता हूं ?" ज्ञानी पुरुषमें असत्यता हो ही नही सकती।

अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक व स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम ही नहीं पडता। इंद्रियां उनकी सहज आदी हो जाती हैं। 'सहज बोलना, हित उपदेश' वाली स्थिति

हो जाती है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुषके लिए सत्कर्म सहज हो जाते है। किलकिलाते रहना पखियोका सहज धर्म है। माकी याद आना बच्चोका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना सतोका सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकड़ू-कू' करना मुर्गेका सहज धर्म है। स्वरोंका ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनिने मुर्गेकी बागका उदाहरण दिया है। पाणिनिके समय से आज तक मुर्गा सुबह बाग देता है, पर क्या इसके लिए उसे किसीने मान-पत्र अर्पण किया है ? मुर्गेका वह सहज धर्म है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका ऐब—खामी न देखना, सेवकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषोंके कर्म सहज रूपसे होते रहते है। उनके किये बिना वे जिंदा नही रह सकते। किसीने भोजन किया तो क्या हम उसका गौरव करते है? खाना, पीना, सोना जैसे सासारिकोंके सहज कर्म है, वैसे ही सेवा-कर्म ज्ञानियोके लिए सहज कर्म है। उपकार करना उनका स्वभाव हो जाता है। वह यदि कहेगा कि मै उपकार नही करूगा, तो यह असंभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुषका वह कर्म अकर्म दशाको पहुंच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशाको 'सन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गई है। सन्यास यही परम धन्य अकर्म दशा है। इसी दशाको कर्मयोग भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अत. वह 'योग' है; परतु करते हुए भी वह करता है ऐसा मालूम नही होता, इसीलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नही लगता—इसलिए वह 'योग' है, व करके भी कुछ नही किया इसलिए वह 'सन्यास' है।

[१९]

'सन्यास' की आखिर कल्पना क्या है ? कुछ कर्म छोडना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या ? नही, ऐसी बात नही है। संन्यासकी व्याख्या ही है, "सब कर्मोको छोडना"। सब कर्मोसे मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना सन्यास है। परंतु कर्म न करनेका मतलब क्या ? कर्म बडी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे ? कर्म तो

आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, बैठे तो भी क्रिया ही हुई न? 'बैठना' यह क्रिया-पद है। केवल व्याकरणकी दृष्टिसे ही वह क्रिया नहीं हुई, परंतु सृष्टि-शास्त्रमें भी 'बैठना' क्रिया ही है। अरे, सतत बैठे रहनेसे पैर दुखने लगते है। बैठनेमें भी श्रम तो ह ही। जहां न करना भी कर्म सिद्ध होता है, वहां कर्म सन्यास होगा भी कैसे? भगवान्ने अर्जुनको विश्व-रूप दिखलाया। वह सर्वत्र फैला हुआ विश्व-रूप देखकर अर्जुन डर गया व घबराकर उसने आखें मूद ली। परंतु आखें मूदकर देखा तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अब आखें मूंद लेनेपर भी जो दीखता है उससे कैसे बचा जाय? न करनेसे भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाय?

एक शख्सकी बात है। उसके पास सोनेके बहुत बेश-कीमती गहने थे। वह उन्हें एक बड़ी सन्दूकमें बद करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा बड़ा-सा लोहेका सदूक बनवा लाया। उसे देखकर उस शख्सने कहा—"तू कैसा बेवकूफ है रे! गवार, तू सुदरता जैसी भी कोई चीज समझता है या नहीं? ऐसे बेश-कीमती जेवर रखना है तो क्या भद्दे मनहूस लोहेके संदूकमें रखे जायगे? जा, अच्छा सोनेका सदूक बनाकर ला!" नौकर सोनेका सदूक बनवा लाया। "अब ताला भी सोनेका ही ले आओ। सोनेके संदूकमें सोनेका ही ताला फबेगा।" वह शख्स गया था जेवरको छिपाने, उसे ढाककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला? चोरोंको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नहीं रही। सदूक उठाया और काम बन गया। मतलब यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है, उसका संन्यास किया कैसे जाय?

ऐसे कामोंका सन्यास करनेकी रीति ही यह है कि ऐसी तरकीब साधी जाय जिससे दुनिया-भरके कर्म करते हुए भी वे सब गलकर बह जाय। जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते है कि 'संन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल-जाना' यह बात आखिर है कैसी? सूर्य-के जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रातको भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्द्धमें काम करता

कर्म करते हुए भी, ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ भी नही करता। इसी लिए चौथे अध्यायमें भगवान् कहते हैं—मैंने यह योग पहले सूर्यको सिखाया; फिर सूर्यसे विचार करनेवाले, मनन करनेवाले, मनुने इसे सीखा। चौबीस घटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेशमात्र कर्म नही करता। इसमें कोई सदेह नही कि यह स्थिति सचमुच अदभुत है।

[२०]

परतु यह तो सन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कर्म करके भी नही करता, यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ। वह कुछ भी कर्म नही करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमें प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू भी है। उसमें अपरपार प्रेरक शक्ति है। अकर्मकी खूबी भी यही है। अकर्ममें अनत कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भापका भी ऐसा ही है न? भापको रोककर रखिये, तो कितना प्रचड कार्य करती है। उस रोकी हुई भापमे अपार शक्ति आ जाती है। वह वडे-वडे जहाज और रेलगाडियोको बात-की-बातमें खीच ले जाती है। सूर्यकी भी ऐसी ही बात है। वह लेशमात्र भी कर्म नही करता, परंतु चौबीस घटे लगातार काम करता है। उससे पूछेंगे तो वह कहेगा, "मै कुछ नही करता"। रात-दिन कर्म करते हुए न करना यह जैसे सूर्यका एक पहलू हुआ, वैसे ही कुछ न करते हुए रात–दिन अनत कर्म करना, यह दूसरा पहलू हुआ। सन्यास इन दोनो प्रकारोसे विभूषित है।

दोनो असाधारण है। एक प्रकारमें कर्म प्रकट है व अकर्मावस्था गुप्त है। दूसरे प्रकारमें अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है, परतु उसकी बदौलत अनत कर्म होते रहते हैं। इस अवस्थामें अकर्ममें कर्म लबालब भरा रहता है। इसलिए उससे प्रचड कार्य होता है, ऐसी अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिमे व आलसी आदमी में बडा अतर है। आलसी मनुष्य थक जायगा, ऊब जायगा। लेकिन यह अकर्मी सन्यासी कर्म-शक्तिको रोक करके रखता है। लेशमात्र भी कर्म नही करता। वह हाथ-पावसे किसी इद्रियसे कोई कर्म नही करता। परतु कुछ न करते हुए भी वह अनत कर्म करता है।

किसी मनुष्यको गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूलसे वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलता नहीं। अब उसके अबोलका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचंड परिणाम होता है। दूसरा बड़बड़ बोलता चला जायगा। दोनो हैं तो गुस्सेमें ही, परंतु एक चुप है, दूसरा बड़बड़ाता है। दोनो हैं गुस्सेके ही नमूने। न बोलना भी है तो क्रोधका ही एक रूप। इससे भी कार्य होता है। मा या बापने बच्चेसे बोलना बंद कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचंड होता है। उस बोलनेके कर्मको छोड़ देनेसे, उस कर्मको न करनेसे ही इतना प्रचंड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उसका उतना परिणाम नही हो सकता था। उस अबोलका जो प्रभाव हुआ, वह बोलनेसे नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषोंकी ऐसी ही स्थिति होती है। उनका अकर्म ही, उनका खामोश बठना ही प्रचंड कर्म करता है, प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता है कि वे सब क्रियाके द्वारा प्रकट ही नही हो सकते। इस तरह यह सन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे सन्यासके सारे उद्योग, सारी मिहनत एक आसनपर आकर बैठ जाते है।

"उद्योगकी दौड़ बैठी है सुस्थिर।
प्रभु-पदमें पड़ा गठरी जैसा॥
चिन्ता गई सारी, हुआ है भरोसा।
अब गर्भवास छूटा मेरा॥
अपनी सत्तासे हू नहीं जीता।
यो अभिमान छीना प्रभुने॥
तुका कहे जीता एककी सत्तासे।
हू मैं खोखला खोजा जैसे॥"

तुकाराम कहते है—"मै अब खाली हो गया हू। गठरी होकर पडा हूं। सब उद्योग खत्म हो गये।" तुकाराम खाली हो गये, परतु उस खाली बोरेमें प्रचंड प्रेरक शक्ति है। सूर्य स्वत आवाज नही लगाता, परंतु उसके दीखते ही पछी उड़ने लगते हैं, मेमने नाचने लगते है, गायें

वनमें चरने जाती है, बनिया-महाजन दूकान खोलते है, किसान खेतपर जाते है, ससारके नाना व्यवहार शुरू हो जाते है। सूर्य बना रहे, यही काफी है। उतने ही से अनंत कर्म शुरू हो जाते है। इस अकर्मावस्थामें अनंत कर्मोंकी प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। ऐसा यह संन्यासका दूसरा अद्भुत प्रकार है।

[२१]

पांचवे अध्यायमें संन्यासके दो प्रकारोकी तुलना की गई है। एक चौबीसो घटे कर्म करके भी कुछ नही करता और दूसरा क्षण भर भी कुछ न करके सवकुछ करता है। एक बोलकर न बोलनेका प्रकार तो दूसरा न बोलकर बोलनेका प्रकार। इन दो प्रकारोकी यहा तुलना की गई है। ये जो दो दिव्य प्रकार है, उनका अवलोकन करें, विचार करे, मनन करें, इसमें अपूर्व आनद है।

यह विषय ही अपूर्व व उदात्त है। सचमुच ही संन्यासकी यह कल्पना बहुत ही पवित्र व भव्य है। जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना—पहले-पहल खोज निकाली, उसे कितने धन्यवाद दिये जायं। यह वडी उज्ज्वल कल्पना है। मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊची उडानें मारी है उन सबमें ऊँची उडान संन्यासतक पहुची है। इसके आगे अभी तक कोई उडान न मार सका। उडानें मारना तो जारी है, परतु मैं नही कह सकता कि विचार और अनुभवमें इतनी ऊची उडान किसीने मारी हो। इन दो प्रकारोसे युक्त संन्यासकी कोरी कल्पना ही आखोके सामने आनेसे अपूर्व आनंद होता है। किंतु भाषा और व्यवहारके इस जगत्में जब आते है, तब वह आनद कम हो जाता है। जान पडता है, नीचे गिर रहे हैं। मै अपने मित्रोसे इसके विषयमें हमेशा कहता रहता हू। आज कितने ही वर्षोंसे मै इन दिव्य विचारोका मनन कर रहा हूं। यहा भाषा अधूरी पडती है। शब्दोकी कक्षामें यह आता ही नही।

न करके सवकुछ कर डाला व सबकुछ करके भी लेशमात्र नही किया—कितनी उदात्त, रसमय व काव्यमय यह कल्पना है! अब काव्य और क्या वाकी रहा? जो कुछ काव्यके नामसे प्रसिद्ध है वह सब इस काव्य के आगे फीका है। इस कल्पनामें जो आनद, जो उत्साह, जो स्फूर्ति व जो

दिव्यता है, वह किसी भी काव्यमें नही। इस तरह यह पाचवा अध्याय ऊची—वडी ऊंची भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्यायतक कर्म, विकर्म वताकर यहा खूब ही ऊची उड़ान मारी है। यहा अकर्म दशाके दो प्रकारोकी प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहा भाषा लडखडाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्म-सन्यासी श्रेष्ठ ? कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहा ही नही जा सकता। सव करके भी कुछ न करना व कुछ भी न करते हुए सव-कुछ करना, ये दोनो योग ही है, परंतु तुलनाके लिए एक को योग कहा है, दूसरेको सन्यास।

[२२]

तो अव इनकी तुलना कैसे की जाय? इसके लिए उदाहरणोंसे ही काम लेना पडेगा। जव उदाहरण देने जाते है तो प्रतीत होता है, मानो नीचे गिर रहे है। परतु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिये तो, पूर्ण कर्म-सन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग, ये कल्पनाए ऐसी है, जो इस शरीरमें नही समा सकती। वे इस देहको फोड डालेंगी। परतु, जो महापुरुष इस कल्पनाके नजदीकतक पहुच गये है, उनके उदाहरणसे हमें काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले है। परतु, थोडी देरके लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण है।

रेखागणितमें जैसा कहते है कि 'कल्पना करो' कि 'सा' 'रे' 'ग'—एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यो करें ? क्योकि इस त्रिकोणकी रेखाए यथार्थ रेखाए नही है। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि जिसमें लवाई है, पर चौडाई नही। तख्तेपर विना चौडाईके यह लवाई दिखाई कैसे जाय ? लवाई जहा खीची कि चौडाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खीचेंगे, उसमें कुछ-न-कुछ चौडाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमे रेखा 'मानें' विना काम ही नही चलता। भक्ति-शास्त्रमें भी ऐसी ही वात है। वहा भी भक्त कहता है—इस छोटी-सी शालग्रामकी वट्टीमे अखिल ब्रह्माड-नायक है, यह "मानो।" यदि कोई कहे—"यह क्या पागलपन है ?" तो उससे कहो—"तुम्हारा यह भूमिति क्या पागलपन है ? विलकुल स्पष्टतः मोटी रेखा दिखाई पडती है और कहते हो कि इसे विना चौड़ाईकी मानो,

यह क्या पागलपन है ?" खुर्दबीनसे देखोगे तो वह आधा इच चौडी दिखाई देगी। जैसे तुम अपनी भूमितिमे मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि—"मानो, इस शालग्राममे परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायगा, लगाऊ एक चोट ?" तो यह समझदारी नही कही जायगी; क्योकि जब भूमितिमे 'मानो' चलता है, तो फिर भक्ति-शास्त्रमें क्यो न चलना चाहिए ? विंदुको कहते है 'मानो' और तख्तेपर विंदु (प्रत्यक्ष) निकालते है। विंदु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। विंदुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी ही व्याख्या है। विंदुकी न लबाई, न चौड़ाई, न मोटाई—कुछ भी नही। किंतु व्याख्या तो ऐसी करते है व फिर उसे तख्तेपर बनाकर दिखाते है : पर विंदु तो वास्तवमे अस्तित्व मात्र है, त्रि-परिमाण-रहित है। मतलब यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा विंदु व्याख्यामे ही रहता है, परतु हमको उसे मानकर चलना पडता है। भक्ति-शास्त्रमें भी शालग्राममें न टूटने-फूटनेवाला सर्व-व्यापी परमेश्वर मानना पडता है। हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टात लेकर इनकी तुलना करेंगे।

मीमासकोने तो एक वडा मजा ही किया है। परमेश्वर कहा है—इसकी मीमासा करते हुए उन्होने वडा सुदर विवरण किया है। वेदोमे इद्र, अग्नि, वरुण आदि देवता है। इन देवताओ का विचार मीमासामे करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है—"यह इद्र कैसा है ? इसका रूप कैसा है ? यह रहता कहा है ?" मीमासक उत्तर देते है—'इन्द्र' शब्द ही इद्र का रूप है। 'इन्द्र' शब्दमें ही वह रहता है। 'इ' व उस पर 'अनुस्वार', फिर 'द्र'—यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्त्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कैसे ? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुण का रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओके विषयमे समझिए। ये सारे देवता अक्षर-रूप धारी है। देवता सब अक्षर-मूर्त्ति है, इस कल्पनामे—इस विचारमे—बडी मिठास है। देवकी कल्पना—देव वस्तु किसी आकारमे न समाने जैसी है। उस कल्पनाको प्रदर्शित करनेके लिए अक्षर यही एक चिन्ह काफी होगा। ईश्वर कैसा है ? तो पहले 'ई', फिर 'श्व', फिर 'र'। आखिरमें 'ॐ' ने तो कमाल

ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वरके लिए वह एक संज्ञा ही बन गया। ऐसी सज्ञाएं बनानी पडती है; क्योकि मूर्त्तिमें—आकारमें—ये विशाल कल्पनाए समा ही नही सकती; परतु मनुष्यकी इच्छा बडी जबरदस्त होती है। वह इन कल्पनाओको मूर्तिमें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न किये बिना रहता ही नही।

[२३]

संन्यास व योग, ये बहुत ऊची उडानें है। पूर्ण संन्यास व पूर्णयोग-की कल्पना इस देहमें नहीं समा सकती। भले ही देहमें ये ध्येय न समा सकें, तो भी विचारमें जरूर समा जाते है। पूर्ण योगी और पूर्ण सन्यासी तो व्याख्यामें ही रहनेवाले है। ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेंगे, परतु उदाहरणके तौरपर ऐसे व्यक्ति लेने होगे, जो इन कल्पनाओके अधिक-से अधिक नजदीक पहुच पाये होगे। और फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि 'इसे पूर्ण योगी और इसे पूर्ण संन्यासी' समझो। संन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते है। इत्रर कर्मयोगीके रूपमें जनक और श्रीकृष्णका नाम खुद भगवद्गीतामें ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीता-रहस्य'में एक नामावली ही दे दी है। "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये, शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये।" परतु थोडा विचार करनेसे यह फेहरिस्त, लिखा हुआ, भीगे हाथसे जिस तरह मिटाया जाता है, उस तरह, मिटा दी जायगी। याज्ञवल्क्य सन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे। यानी संन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे, लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव सन्यासी हुए। याज्ञवल्क्यके शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक। सन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर संन्यासी—ऐसी यह मालिका बनती है। इस तरह योग और सन्यास एक-ही परपरामें आ जाते हैं।

शुकदेवसे व्यासने कहा—"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परतु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुमपर नही लगी। इसलिए तुम जनकके पास जाओ।" शुकदेव चले। जनक तीसरे मजिलपर अपने विशाल भवनमें बैठे थे। शुक थे वनवासी! नगर देखते-देखते चले। जनकने शुकदेवसे

पूछा—"क्यो आये?" शुकने कहा—"ज्ञान पानेके लिए।" "किसने भेजा?" "व्यासदेवने।" "कहांसे आये?" "आश्रमसे।" "आते हुए यहां बाजारमें क्या-क्या देखा?" "चारो तरफ शकरकी एक ही मिठाई सजी हुई दिखाई दी।" "और क्या देखा?" "चलते-बोलते शकरके पुतले देखे।" "फिर क्या देखा?" "यहां आते हुए शकरकी सख्त सीढिया मिली।" "फिर क्या मिला?" "शकरके चित्र यहा भी सर्वत्र देखे।" "अब क्या दीख रहा है?" "एक शकरका पुतला दूसरे शकरके पुतलेसे बात कर रहा है।" जनकने कहा, "जाओ, तुमको सब ज्ञान मिल चुका।" शुकदेवको जनकसे उनके दस्तखतका जो प्रमाणपत्र चाहिए था वह मिल गया। मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने सन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमें पास किया। शुक तो सन्यासी ही थे; परंतु प्रसंग कैसा मजेदार है!

परीक्षितको शाप मिला—सात दिनमें तुम्हारी मौत आ जायगी। परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी। उसे ऐसा गुरु चाहिए था, जो यह सिखाये कि मरे कैसे। उसने शुकाचार्यको बुलाया। शुकाचार्य जो आकर बैठे तो २४×७=१६८ घटे पल्थी मारकर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया तो फिर, छोडा ही नही। एक-सी कथा कहते ही रहे। 'तो इसमें कौन बडी बात है?' बडी बात यह कि सतत सात दिनतक उनको भारी श्रम करना पड़ा, फिर भी वह उन्हें कुछ नहीं मालूम हुआ। सतत कर्म करते रहकर भी मानो वे कर्म कर ही नही रहे थे। श्रमकी भावना ही वहा नही थी। सार यह कि संन्यास और कर्मयोग, ये दोनो भिन्न है ही नही।

इसलिए भगवान् कहते है—

"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।"

संन्यास और योगमें जो एक-रूपता देखेगा, कहना होगा कि उसीने वास्तविक रहस्य समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नही करता। जो सचमुच श्रेष्ठ सन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसा संन्यासी पुरुष दस दिन हमारे-आपके बीचमें आकर रहने दो। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे

मिलेगी ! अनेक वर्षोतक कामका ढेर लगाकर भी जो नही हुआ वह केवल उसके दर्शनसे—अस्तित्व मात्रसे हो जायगा। फोटो देखकर यदि मनमें पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोके चित्रोसे यदि भक्ति, प्रेम, पवित्रता हृदयमे उत्पन्न होती है, तो जीवित सन्यासीको देखनेसे कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी ? सन्यासी और योगी, दोनो लोक-सग्रह करते है। एक जगह यदि वाहरसे कर्म-त्याग दिखाई दिया तो भी उस कर्म-त्यागमें कर्म लवालव भरा हुआ है। उसमें अनत स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी सन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी दोनो एक ही सिहासनपर बैठनेवाले है। सज्ञा भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्वके ये दोनो पहलू या प्रकार है। यंत्र जब वेगसे घूमता है तो वह ऐसा दिखाई देता है, मानो स्थिर है, घूम नही रहा है। सन्यासीकी भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शाति-मेंसे, स्थिरतामेंसे, अनत शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है। महावीर, वुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतिया थी। सन्यासीके तमाम उद्योगोकी दौड एक आसनपर आकर स्थिर हो जाय, तो भी वह प्रचड कर्म करता है। मतलब यह कि योगी ही सन्यासी है और सन्यासी ही योगी है। दोनोमें कुछ भी भेद नही है। शब्द अलग-अलग है। पर अर्थ एक ही है। पत्थरके मानी पाषाण और पाषाणके मानी पत्थर जैसे है, वैसे ही कर्मयोगीके मानी सन्यासी और सन्यासीके मानी कर्मयोगी है।

[२४]

वात यद्यपि ऐसी है तो भी भगवान्ने एक तुर्रा लगा रखा है। भगवान् कहते है—सन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है। जव दोनो ही एकसे है तो फिर भगवान् ऐसा क्यो कहते है ? यह फिर क्या दिल्लगी है ? जव भगवान् कहते है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है तव वह साधककी दृष्टिसे कहते है। विलकुल कर्म न करते हुए सव कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए शक्य है, साधकके लिए नही। परतु सव कर्म करके भी कुछ न करना, इस तरीकेका थोडा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है जो साधकके लिए शक्य नही, सिर्फ सिद्धके ही लिए शक्य है। दूसरी ऐसी है जो साधकके लिए भी थोडी-बहुत शक्य है। विलकुल कर्म न करते हुए कर्म

कैसे करना, यह साधकके लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझमें नही आ सकता। कर्मयोग साधकके लिए एक मार्ग भी है व मुकाम—पड़ाव—भी है, परंतु सन्यास तो आखिरी मजिलपर ही है, मार्गमें नही है। इसी कारण संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ है।

इसी न्यायसे भगवान्‌ने आगे बारहवें अध्यायमें निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष माना है। सगुणमे सब इद्रियोके लिए काम है, निर्गुणमे ऐसा नही है। निर्गुणमे हाथ बेकार, पाव बेकार, आखें बेकार—सब इद्रिया कर्म-शून्य ही रहती है। साधकसे यह सब नही सध सकता। परंतु सगुणमें ऐसी बात नही है। आखोसे रूप देख सकते है, कानोसे कीर्त्तन सुन सकते है, हाथसे पूजा कर सकते है, लोगोकी सेवा की जा सकती है, पावसे तीर्थ-यात्रा होती है—इस तरह सब इद्रियोको काम देकर उनसे मैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हें हरिमय बना देना सगुणमें शक्य रहता है; परतु निर्गुणमे यह सब बद—जीभ बद, कान बद, हाथ-पैर बंद। यह सारा 'बंदी'-प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है! उसके चित्तमें निर्गुण बैठेगा कैसे? वह यदि खामोश बैठा रहेगा तो उसके चित्तमें अट-शट विचार आने लगेंगे। इद्रियोका यह स्वभाव ही है कि उन्हें कहते हैं कि न करो तो वे जरूर करेगी। विज्ञापनोमें क्या ऐसा नही होता? ऊपर लिखते है 'मत पढो।' तो पाठक मनमें कहता है कि यह जो न पढनेको लिखा है, तो पहले इसीको पढो न! 'मत पढो' कहना इसी उद्देश्य से होता है कि पाठक उसे जरूर पढे। मनुष्य अवश्य ही उसे जतनसे पढता है। निर्गुण-मे मन भटकता रहेगा। सगुण भक्तिकी बात ऐसी नही। वहा आरती है, पूजा है, सेवा है, भूत-दया है, इद्रियोके लिए वहा काम है। इन इद्रियोको ठीक काममें लगाकर फिर मनसे कहो, "अब जाओ, जहा जी चाहे।" परन्तु तब मन नही जाने का। वही रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा। परंतु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थानपर बैठाना चाहोगे तो वह भाग ही छूटेगा। भिन्न-भिन्न इद्रियोको उत्तम, सुदर, काममें लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकनेके लिए कह दो। वह नही भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो तो वह कहेगा—"लो, मै यही बैठ गया।" यदि उसे हुक्म दिया कि "चुप बैठो" तो कहेगा "मै यह चला"।

देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी बनिस्बत सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते रहते भी उसे उडा देनेकी युक्ति कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें आसानी होती है। कर्मयोगीमें प्रयत्न—अभ्यासके लिए जगह है। सब इंद्रियोंको अपने अधीन बनाकर धीरे-धीरे सब उद्योगोंसे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्मयोगमें किया जा सकता है। यह तरकीब आज न सधी तो भी सधने जैसी है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही सन्यासकी अपेक्षा उसकी विशेषता है; परंतु पूर्णावस्थामें कर्मयोग व सन्यास दोनो एक ही है। पूर्ण सन्यास व पूर्ण कर्मयोग दोनो एक ही है। नाम दो है, देखनेमें अलग-अलग है, परतु असलमें दोनो है एक ही। एक प्रकारमें कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परतु भीतर शाति है। दूसरे प्रकारमें कुछ न करते हुए त्रिभुवनको हिला डालनेकी शक्ति है। जो दीख पडता है वह नही है—यह दोनो के स्वरूप है। पूर्ण कर्मयोग सन्यास है, तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नहीं। परतु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामें दोनो एक ही है।

ज्ञानदेवको चागदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरे कागजका पत्र था। चांगदेवसे ज्ञानदेव उम्रमें छोटे थे। 'चिरजीव' लिखते है तो ज्ञानदेव ज्ञानमें श्रेष्ठ थे। 'पूज्य' लिखें तो उम्रमें कम थे। तब सिरनामा क्या लिखें? यह कुछ तय नहीं हो पाता था। अत चागदेवने कोरा कागज ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमें पडा। उन्होंने उसे पढकर ज्ञानदेवको दे दिया। ज्ञानदेवने पढा व मुक्ताबाईको दे दिया। मुक्ताबाईने पढकर कहा—"चागदेव, इतना बडा हो गया है, पर है अभी कोरा-का-कोरा ही।" निवृत्तिनाथने और ही अर्थ पढा था। उन्होने कहा—"चागदेव कोरे है, शुद्ध है, निर्मल है, उपदेश देनेके योग्य है।" फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा। ज्ञानदेवने ६५ ओवियो[1]का पत्र भेजा। उसे 'ज्ञानदेव पासष्ठी' कहते है। इस पत्रकी ऐसी मनोरंजक कथा है। हुआ पढना सरल है, परन्तु न लिखा हुआ पढना कठिन है।

---

१ एक प्रचलित मराठी छंद।

कभी खतम ही नही होता। इसी तरह सन्यासी रीता-कोरा दिखाई दिया तो भी उसमें अपरंपार कर्म भरा रहता है।

सन्यास व कर्मयोग—पूर्ण रूपमें दोनोकी कीमत एक-सी है; परतु कर्मयोगकी व्यावहारिक कीमत और ज्यादा है। किसी एक नोटकी कीमत पाच रुपये है। सोनेका सिक्का भी पाच रुपयेका होता है। जबतक सरकार स्थिर है, तबतक दोनोकी कीमत एक-सी है, परतु यदि सरकार बदल गई तो फिर व्यवहारमें उस नोटकी कीमत एक पाई भी नही रहती। मगर सोनेके सिक्केकी कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायगी; क्योकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्थामें कर्म-त्याग व कर्मयोग दोनोकी कीमत एक-सी है; क्योकि ज्ञान दोनोमें समान है। ज्ञानकी कीमत अनत है। अनंतमें कुछ मिलाओ तो कीमत अनत ही रहती है, गणित-शास्त्रका यह सिद्धात है। कर्म-त्याग व कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञानमें मिल जाते है तो दोनोकी कीमत बराबर हो जाती है; परतु ज्ञानको यदि दोनो ओर से हटा लिया तो फिर कर्म-त्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस, शुद्ध ज्ञान दोनो ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है। मजिल पर पहुच जानेपर ज्ञान+कर्म=ज्ञान+कर्माभाव। परतु ज्ञानको दोनो ओरसे घटा दीजिए तो फिर कर्मके अभाव की अपेक्षा कर्म ही साधकके लिए श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधककी समझमें ही नही आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्गमें भी है और मुकाम पर भी है; परतु सन्यास सिर्फ मुकाम पर ही है, मार्गमें नही। यदि यही बात शास्त्रकी भाषामें कहनी हो तो कर्मयोग साधन भी है व निष्ठा भी है; परतु सन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठाका अर्थ है, अतिम अवस्था।

रविवार, २०-३-३२

छठा अध्याय

[२५]

पांचवें अध्यायमें हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्य ऊंची-से-ऊंची उड़ान कहांतक मार सकता है। कर्म, विकर्म अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करें उनमें हमारे मनका सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म किया जाय वह विकर्म, विशेष कर्म, अथवा सूक्ष्म कर्म है। जरूरत कर्म और विकर्म दोनोंकी है। इन दोनोंका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्यायमें देख लिया कि इस भूमिकामें कर्म व सन्यास, दोनो एक-रूप ही हो जाते हैं। अब छठे अध्यायके आरंभमें फिर कहा है कि कर्मयोगीकी भूमिका सन्यास की भूमिकासे अलग दिखाई देनेपर भी अक्षरशः एक-रूप है। सिर्फ दृष्टिका फर्क है। पांचवें अध्यायमें जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है, उसके साधन खोजना यह बादके अध्यायोंका विषय है।

कई लोगोंकी ऐसी एक भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रंथ, साधुओंके लिए हैं। एक सज्जनने कहा—"मैं कोई साधु नहीं हूं।" इसका अर्थ यह हुआ कि साधु नामके कोई जीव हैं, जिनमेंसे वे सज्जन नहीं हैं। जैसे घोड़े, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी हैं, वैसे ही साधु नामके भी कोई जीव हैं और परमार्थकी कल्पना सिर्फ उन्हींके लिए है। शेष जो व्यावहारिक जगत्‌में रहते हैं, वे मानो किसी और जातिके हैं। उनके विचार अलग, आचार अलग! इस कल्पनाने साधु-संत और व्यावहारिक लोग, ऐसी दो अलग-अलग जातियां बना दी है। 'गीता-रहस्य'में तिलक महाराजने इस बातकी ओर ध्यान खींचा है। गीताग्रंथ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोंके लिए है, उनका यह कथन मैं अक्षरशः सही मानता हूं। भगवद्गीता सारे संसारके लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन

प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मनका समाधान और शाति कैसे प्राप्त की जाय? व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय—यह बतानेके लिए गीता है। जहा-जहा तुम व्यवहार करते हो, वहा-वहा गीता आती है। परतु वहा वह आपको रखना नही चाहती। आपका हाथ पकडकर वह अतिम मजिलतक आपको ले जायगी। एक मशहूर कहावत है न कि 'पर्वत यदि मुहम्मदके पास न आवे तो मुहम्मद पर्वतके पास जायगा।' मुहम्मदको यह चिंता है कि मेरा सदेश जड पर्वततक भी पहुंचे। पर्वत जड है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नही जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रथकी है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, गवार हो, गीता उसके पास पहुच जायगी। परतु इसलिए नही कि उसे जहा-का-तहा रख दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकडकर आगे ले जाय, ऊपर उठावे। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है।

अतएव "मै जड हू, व्यवहारी हू, सासारिक जीव हू"—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड मत लगाओ। मत कहो कि "मेरे हाथोसे क्या होगा? इस साढे तीन हाथके शरीरमें ही मेरा सार-सर्वस्व है।" ऐसी बधनोकी दीवारें अपने आस-पास खडी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढनेकी—ऊपर चढनेकी हिम्मत रखो।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

ऐसी हिम्मत रखो कि मै अपनेको अवश्य ऊपर चढा ले जाऊगा। यह मानकर कि मै क्षुद्र सासारिक जीव हू, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पख काट मत डालो। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ। चडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रातःकाल सूर्यको देखकर चडूल कहता है कि मै सूर्यतक उड जाऊगा। वैसा हमें बनना चाहिए। अपने दुर्बल पखोसे चडूल बेचारा कितना ही ऊचा उडे, तो भी वह सूर्यतक कैसे पहुचेगा? परतु अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह जरूर सूर्यको पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊचे जा सकते थे, उतने

भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओंपर रुकावटें डाल अपनेको और नीचे गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है, उसे भी अपनी हीन-भावना-से नष्ट कर लेते हैं। जहा कल्पनाके ही पाव टूट गये तो फिर नीचे गिरनेके सिवाय क्या गति होगी? अत कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढता है, अत. कल्पनाको सिकोड मत डालो।

"स्थूल मार्गको तजो नहीं।
पडे जगतमें रहो, न इत-उत भटको भैय्या व्यर्थ कहीं।"

ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्माका अपमान मत कर लो। साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा तो ही वह टिक सकेगा। इसीसे उद्धार होगा। परतु धर्म तो साधु-सतोके लिए ही है, साधु-सतोंके पास गये भी, तो यह प्रशस्ति-पत्र लेने के लिए कि 'तुम जिस स्थितिमें हो, उसमें यही व्यवहार उचित है', इस किस्मके खयाल छोड दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाएं करके अपनेको बधनमें मत डालो। यदि उच्च आकाक्षा नही रखेंगे, तो एक कदम भी आगे नही बढ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकाक्षा, यह महान् भावना, यदि हो तब तो साधनो-का जोड-तोड आवश्यक है, नही तो फिर सारा किस्सा ही खतम। बाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधन-रूपी विकर्म बताया है। कर्मकी मददके लिए विकर्म निरतर चाहिए। इन दोनोकी सहायतासे अकर्म नामक जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है, वह और उसके प्रकार पाचवें अध्याय-में देखें। इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार बताये गए है। मानसिक साधना बताई गई है। इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है—

"भैय्या जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकाक्षा रखो। मनको मुक्त बनाकर उसके पखोको सुदृढ बनाओ।" साधनाके—विकर्मके भिन्न-भिन्न प्रकार है। भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार है।

छठे अध्यायमे ध्यान-योगनामक साधन-प्रकार बताया गया है।

[२६]

ध्यान-योगमें तीन बातें मुख्य हैं—(१) चित्तकी एकाग्रता (२) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (३) साम्य-दशा या सम-दृष्टि। इन तीन बातोके बिना वास्तविक साधना नही हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है, चित्तकी चचलतापर अकुश। जीवनकी परिमितताका अर्थ है, सब क्रियाओका नाप-तौल कर होना। समदृष्टिका अर्थ है, विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि। इन तीन बातोको लेकर ध्यान-योग बन जाता है। इन तीन साधनोके भी फिर और साधन है। वे हैं अभ्यास और वैराग्य। इन पाचो बातोकी थोडी-सी चर्चा हम यहा करें।

पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिए। प्रत्येक काममें चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक बातोमें भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए। यह बात नही कि व्यवहारमे अलग गुणोकी जरूरत है और परमार्थमें अलग। व्यवहारको शुद्ध करनेका ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसका यशापयश, सफलता-विफलता आपकी एकाग्रता पर अवलबित है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति किसीको ले लीजिए, इनमें जो कुछ यश मिलेगा, वह उन पुरुषोके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगा। नेपोलियनके लिए कहा जाता है कि युद्धकी व्यवस्था जहा एक बार ठीक-ठीक लगा दी कि फिर समर-भूमिमें वह गणितके सिद्धात हल किया करता था। डेरो-तबुओपर गोले बरसते, सैनिक मरते, परतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमें ही मग्न रहता। मै यह नही कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बढी हुई थी। उससे भी ऊंचे दरजेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेंगे, परतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी यह देखो। खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लडाईमें जब नमाजका समय हो जाता, तो वह वही समरभूमिमे चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नही रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे हैं। शुरूके मुसलमानोकी इस परमेश्वर-

निष्ठाकी ही वदौलत, इस एकाग्रताकी ही वदौलत, इस्लाम-धर्म इतना फैला था ।

उस दिन मैंने एक कहानी सुनी । एक फकीर था । उसके शरीरमें तीर चुभ गया । इससे उसे बडी वेदना हो रही थी । तीर खीचनेकी कोशिश करते तो वेदना और वढ जाती थी । इससे वह तीर भी नही खीचा जा सकता था । क्लोरोफार्म जैसी वेहोश करनेकी दवा उस समय थी नही । वडी समस्या खडी हो गई । कुछ लोग उस फकीरको जानते थे । वे आगे वढकर वोले—"तीर अभी मत निकालो । यह नमाज पढने वैठेगा तव निकाल लेगे ।" शामकी नमाजका वक्त हुआ । फकीर नमाज पढने लगा । पल भरमें ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके वदनसे निकाल लिया गया । तो भी उसे मालूम नही हुआ । कैसी जवरदस्त है यह एकाग्रता !

साराश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके विना उसमें सफलता मिलना कठिन है । यदि चित्त एकाग्र रहेगा तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पडेगी । साठ वर्षके वूढे होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममें उत्साह और सामर्थ्य दीख पडेगा । मनुष्य ज्यो-ज्यो वुढापेकी तरफ जाता है त्यो-त्यो उसका मन अधिक मजवूत होता जाना चाहिए । फलको ही देखिए न ? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सडता है और मिट जाता है; परतु त्यो-त्यो भीतरका वीज अधिकाधिक सख्त होता जाता है । यह वाहरी शरीर सड जायगा, गिर जायगा, परतु वाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नही है । उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा, तो है वीज । यही वात शरीरकी है । शरीर भले ही वूढा होता चला जाय, परंतु स्मरणशक्ति तो वढती ही रहनी चाहिए, वुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए । परतु ऐसा होता नही । मनुष्य कहता है—"आजकल मेरी याददाश्त कम हो गई ।" "क्यो ?" "अव वुढापा आ गया है ।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा वीज है । शरीर ज्यो-ज्यो वूढा होता जायगा, त्यो-त्यो ढीला पडता जायगा । परतु त्यो-ही-त्यो आत्मा वलवान होती जानी चाहिए । और यह विना एकाग्रताके नही हो सकता ।

[२७]

अब एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे ? उसके लिए क्या करना चाहिए ? भगवान् कहते है, आत्मामें मनको स्थिर करके "न किंचिदपि चिंतयेत्"—दूसरा कुछ भी चिंतन न करे।

परतु यह सधे कैसे ? मनको बिलकुल शात करना बडी महत्वकी वस्तु है। विचारोके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता कैसे होगी ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय, परतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममे लाये जायं वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते है। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइए, आखें स्थिर कर लीजिए। परंतु इतनेसे मन एकाग्र नही हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बन्द करना सधना चाहिए।

बात यह है कि बाहरका यह अपरपार संसार जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बन्द किये बिना एकाग्रता अशक्य है। अपने आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओमें खर्च कर डालते है, लेकिन ऐसा नही होना चाहिए। जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए खुद अपने प्रयत्नसे धनी हो जानेवाला पुरुष बिना जरूरत खर्च नही करता, उसी तरह हमें भी अपने आत्माकी ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नही करनी चाहिए। यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परंतु हम उसे स्थूल विषयोमें खर्च कर डालते है। यह साग अच्छा नही बना, इसमें नमक कम पडा। अरे भाई, कितनी रत्तीभर नमक कम पडा ? नमक तनिक-सा कम पडा, इस महान् विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है! बच्चोको पाठशालाकी चारदीवारीके अदर ही पढाते है क्योंकि, कहते है कि यदि पेडके नीचे पढायगे तो कौवे, कोयल और चिडिया देखकर उनका मन एकाग्र नही होगा। बच्चे ही जो ठहरे! कौवे, चिडिया नही दिखाई दी तो होगई एकाग्रता! परतु अब हम हो गये है घोडेके बराबर। हमारे अब सीग निकल आये है। यदि हमें सात-सात दीवारोके अन्दर भी किसीने बन्द कर दिया तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नही हो सकती; क्योकि हमारी

आदत दुनियामें हर छोटी-वडी चीजकी चर्चा करनेकी पड गई ह। जो ज्ञान परमेश्वरकी प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमें खो देते है और उसमें कृतार्थता मानते है।

दिन-रात ऐसा यह भयानक ससार हमारे चारो ओर भीतर-वाहर घू-घू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु वाहरी ही रहता है। परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए भी ससारको भुलानेकी भावना ही नही रहती। प्रार्थना भी एक दिखावा है। ऐसी जहा मनकी स्थिति है वहा आसन जमाकर वैठना और आख मूदना सव व्यर्थ हे। मनकी दौड निरतर वाहर ही होते रहनेसे मनुष्य-का सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी भी प्रकारकी व्यवस्था, नियन्त्रण-शक्ति मनुष्यमें नही रहती। इसका अनुभव आज हमारे देशमें कदम-कदमपर हो रहा है। वास्तवमे भारतवर्ष तो परमार्थ भूमि है। यहाके लोग पहले ही ऊची हवामें उडनेवाले समझे जाते है। पर ऐसे देशमें हमारी-आपकी क्या दशा है ? छोटी-छोटी वातोकी इतनी चिंताके साथ चर्चा व पिष्टपेषण करते है कि जिसे देखकर दु ख होता है। क्षुद्र विषयोमें ही हमारा चित्त डूवा रहता है।

> कथा-पुराण-श्रवणमें मीठी नींद सदा आ जाती है।
> पड़ते ही विस्तरपै किन्तु चिंता मनको खाती है।
> कर्मकी गति ऐसी गहना। उसे रोनेसे क्या पाना?

कथा-पुराण सुननेके लिए जाते है, वहा नीद आ घेरती है, और नीद लेने जाते है, तो वहा चिंता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता, तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रताका कही पता नही। इतना यह मनुष्य इंद्रियोका गुलाम है। एक वार किसीने पूछा—"आखें अधमुदी रखनी चाहिए, ऐसा क्यो कहा गया है ?" मैने कहा—"सरल ही उत्तर देता हू। आखें विलकुल मूद लें तो नीद लग जाती है। खुली रखें तो चारो ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नही होती। आखें मूदनेसे नीद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखनेसे दृष्टि सव जगह जाती है, यह रजोगुण आ गया। इसलिए वीचकी स्थिति कही है।"

तात्पर्य यह है कि मनकी स्थिति बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मनकी स्थिति ठीक शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठनेसे वह नही प्राप्त हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासना तृप्तिके लिए, अथवा बाहरी बातोंके लिए नही करना है।

व्यवहार तो हम दिन भर करते रहते है। आखिर दिन भरकी इस उधेडबुनका हेतु क्या है ?

इसी हेतु मेरा सारा परिश्रम।
अंतकी ये घड़ी होवे मीठी ॥

सारी उधेडबुन, सारी दौड-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाय ? जिंदगीभर कडवा विष क्यो पचाया ! इसलिए कि अंतिम घड़ी, वह मरण, पवित्र हो जाय। दिनकी अंतिम घडी शामको आती है। आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भावसे किया गया तो रातकी प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया तो दिनका सारा कर्म सफल समझो। तब मेरा मन एकाग्र हो जायगा।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धिकी जरूरत है। बाह्य वस्तुओका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नही है। परंतु इस थोडी-सी आयुमे भी परमेश्वरीय सुखके स्वाद लेनेका सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही साचेमें ढले, एक-सी छाप लगे हुए। दो आंखें, उनके बीच एक नाक और उस नाकमें दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एकसे होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यो होता है ? एक ही परमेश्वरके बालबच्चे—

'सब एक ही खानिके'

है तो फिर यह फर्क क्यो पडता है ? इन दो व्यक्तियोकी जाति एक है, ऐसा यकीन नही होता। एक नरका नारायण है तो दूसरा नरका वानर !

मनुष्य कितना ऊचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग

पहले भी हो गये हैं और आज भी हमारे बीचमें है। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमें कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले संत पहले निकले और आज भी हैं। इस देहमें रहकर यदि मनुष्य ऐसी अद्‌भुत करनी कर सकता है तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूंगा। मैं अपनी कल्पनाको मर्यादामें क्यों न बांध लूं? जिस नर-देहमें रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिला है, फिर मेरी ऐसी दशा क्यों? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखनेमें वह बहुत वाहियात हो गया है। परंतु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है?

कहां गुण-दोष परायेके देखूं।
कमी क्या मुझमें दोषोंकी है?

खुद मुझमें क्या दोष कम हैं! यदि मैं सदैव दूसरोंकी छोटी-छोटी बातें देखनेमें ही तल्लीन रहा, तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता हो भी कैसे? उस दशामें मेरी स्थिति दो ही प्रकारकी हो सकती है। एक तो शून्य-अवस्था अर्थात् नींद, और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमें ही मैं उलझता रहूंगा।

भगवान्‌ने यह जरूर कहा है कि चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आंखें रखो, इस तरह आसन जमाओ, आदि; परंतु इन सबसे फायदा तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हों। मनुष्यके चित्तमें पहले यह जम जाय कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य खुद ही उसकी साधना और मार्ग ढूंढ़ निकालेगा।

[२८]

चित्तकी एकाग्रतामें सहायक दूसरी बात है, जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओंमें आ जाना चाहिए। औषध जैसे नाप-तौलकर ली जाती है, वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। जीवनमें सब जगह चारों तरफ नाप-तौल करनी चाहिए। प्रत्येक इंद्रियपर पहरा बिठाना चाहिए। मैं ज्यादा तो नहीं न खाता हूं, अधिक तो नहीं न सोता,

जरूरतसे ज्यादा तो नही न देखता—ऐसा ध्यान वारीकीसे निरंतर रखना चाहिए ।

एक साहव किसी शख्सके लिए कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमें गय तो एक मिनटमें उनकी निगाहमें आ जाता था कि उसमें कहा क्या रक्खा है ? मैंने मनमें कहा—"भगवन्, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।" क्या मैं उसका मत्री हूं, जो पाच-पचास चीजोकी सूची मनमें रखू ? या मुझे चोरी करनी है ? सावुन यहां था, घडी वहा थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरूरत ? आखोकी यह फजूलियात मुझे छोड देनी चाहिए। उसी प्रकार कानपर भी पहरा रखो। वाज लोग समझते है, यदि कुत्तोकी तरह हमारे कान होते तो कितना अच्छा रहता ! जिधर चाहते, उधर एक क्षणमें उन्हे हिलाया करते। मनुष्यके कानमें परमात्माने यह कसर ही रख दी। परंतु कानकी यह वाहियात शक्ति हमें नही चाहिए। वैसे यह मन भी वहुत जवरदस्त है। जरा कही खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान। अतः जीवनमें नियमन परिमितता लाओ। खराव चीज नही देखें। खराव किताव नही पढें। निंदास्तुति नही सुनें। सदोप वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओका भी जरूरतसे ज्यादा सेवन न करें। लोलुपता किसी भी प्रकारकी न होनी चाहिए। शराव, पकौडी, रसगुल्ले, तो होने ही नही चाहिए; परंतु सतरे, केले, मौसमी भी वहुत नही चाहिए। फल-आहार यो शुद्ध आहार है; परतु वह भी अनाप-शनाप नही होना चाहिए। जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन न होना चाहिए। इंद्रियोपर यह धाक रहनी चाहिए कि यदि हम ऊट-पटाग करेंगे तो भीतरका मालिक हमें जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही जीवनकी परिमितता कहते है ।

[२९]

तीसरी वात है समदृष्टि होना। समदृष्टिका ही अर्थ है—शुभ दृष्टि। शुभ दृष्टि प्राप्त हुए विना चित्त एकाग्र नही हो सकता। सिंह इतना वडा वनराज है, परतु चार कदम चलकर पीछे देखता है। हिंसक सिंहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौवे, विल्ली, इनकी आख हमेशा

फिरती रहती है। निगाह उनकी चौकन्नी-घबराई हुई होती है। हिंस्र प्राणियोंका ऐसा ही हाल रहेगा। सौम्य दृष्टि आनी चाहिए। यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिए। जैसा मुझे खुद अपनेपर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टिपर मेरा विश्वास होना चाहिए। यहा डरनेकी बात ही क्या है ? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है।

"विश्वं तद् भद्र यदवन्ति देवाः।"

यह विश्व मगलमय है, क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिगने भी ऐसा ही कहा है।

"ईश्वर आकाशमें विराजमान है, और ससार सब ठीक तरहसे चल रहा है।"

संसारमें कुछ भी बिगाड नही है। अगर बिगाड कही है तो वह है मेरी दृष्टिमें। जैसी मेरी दृष्टि, वैसी यह सृष्टि। यदि मैं लाल रंगका चश्मा चढा लूगा तो सारी सृष्टि लाल ही लाल दिखाई देगी, जलती हुई दिखाई देगी।

रामदास रामायण लिखते जाते व शिष्यों को पढकर बताते जाते थे। हनुमान भी गुप्त रूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थ रामदासने लिखा था—"हनुमान अशोक-वनमें गये। वहा उन्होंने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहा झटसे हनुमान प्रकट हो गये और बोले—"मैंने सफेद फूल नहीं देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थने कहा—"मैंने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे।" हनुमानने कहा—"मैं खुद वहा गया था, और मैं ही झूठा ?" अतमें झगडा रामचन्द्रजीके पास गया। उन्होंने कहा—"फूल तो सफेद ही थे। परन्तु हनुमानकी आखें क्रोधसे लाल हो रही थी, इसलिए वे शुभ्र फूल उन्हे लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथाका आशय यही है कि ससारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, ससार भी हमें वैसा ही दिखाई देगा।

यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है तो चित्तकी एकाग्रता नही हो सकती। जबतक मैं यह समझता रहूंगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है—तबतक मैं सशक दृष्टिसे चारो ओर देखता

रहूंगा। कवि पंछियोकी स्वतन्त्रताके गान गाते हैं। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पंछी होकर देखो तो। फिर उनकी आजादीकी सही कीमत मालूम हो जायगी। पक्षियोकी गर्दन बराबर आगे-पीछे एक-सी नाचती रहती है। उन्हे सतत दूसरोका भय लगा रहता है। चिडियाको आसनपर ला बिठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायगी? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्रसे उड़ जायगी। वह डरेगी कि कही यह मुझे मारने तो नही आ रहा है? जिनके दिमागमें ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है—संहारक है, उन्हे शाति कहां? जबतक यह खयाल दिमागसे न निकलेगा कि मेरा रक्षक मै अकेला ही हूं, बाकी सब भक्षक है, तबतक एकाग्रता नही हो सकती। समदृष्टिकी भावना करना ही उसका उत्तम मार्ग है। आप सर्वत्र मागल्य देखने लग जाइए, चित्त अपने आप शांत हो जायगा।

किसी दुःखी मनुष्यको कल-कल बहनेवाली नदीके किनारे ले जाइए। उसके स्वच्छ शात प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी। वह अपना दुःख भूल जायगा। उस झरनेमें, उस प्रवाहमें, इतनी शक्ति कहां से आ गई? परमेश्वरकी शुभ शक्ति उससे प्रकट हुई है। वेदोंमें झरनोका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

"अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्"

ऐसे ये झरने हैं। झरना अखड बहता है, उसका अपना कोई घर-बार नही, वह संन्यासी है। ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमें मेरे मनको एकाग्र बना देता है। ऐसे सुन्दर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका स्रोत मेरे मनमें क्यो न उमड़ पड़े?

यह बाहरका जड पानी भी यदि मेरे मनको इतनी शाति प्रदान कर सकता है तो फिर मेरी मानस-दरीमें यदि भक्ति और ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे तो मेरे मनको कितनी शाति प्राप्त होगी! मेरे एक मित्र पहले हिमालयमें—काश्मीरमें घूम रहे थे। वहाके पवित्र पर्वतोंके, सुदर जल-प्रवाहोंके वर्णन लिख-लिखकर मुझे भेजते थे। मैंने उन्हे उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुमको अनुपम

आनंद देते है उन सबका अनुभव मुझे अपने हृदयमें हो सकता है। अपनी अंत सृष्टिमें मैं नित्य उन सब रमणीय दृश्योको देखता हू, अत : तुम्हारे बुलानेपर भी मैं अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोडकर नही आऊगा।

"स्थावराणां हिमालय·।"

स्थिरताकी मूर्तिके रूपमें जिस हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है, उसका वर्णन सुनकर यदि मैंने अपना कर्तव्य छोड दिया तो वह उल्टी ही बात होगी !

साराश, चित्तको जरा शात कीजिए। चित्तको मगल-दृष्टिसे देखिए। तो फिर आपके हृदयमें अनत झरने बहने लगेंगे। कल्पनाओंके दिव्य तारे हृदयाकाशमें चमकने लगेंगे। पत्थर और मट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शात हो जाता है तो फिर अत सृष्टिके दृश्य देखकर क्यो न होगा ? एक बार मैं (त्रावणकोर) गया था। एक दिन समुद्र किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी घू-घू गर्जना, सायकालका समय, मैं स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे मित्रने वही समुद्र-किनारे कुछ फल वगैरा खानेके लिए ला दिये। उस समय वह सात्विक आहार भी मुझे जहरकी तरह लगा। समुद्रकी वह ॐ ॐ गर्जना मुझे—"मामनुस्मर युद्धय च" इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आई, वह गई और दूसरी आई। उसे एक क्षणके लिए विश्राति नही। यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड़ गई थी। आखिर उस समुद्रमे ऐसा क्या था ! उस खारे पानी की लहरोको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है तो फिर ज्ञान और प्रेमके अथाह सागरके हृदयमें हिलोरे मारनेपर मैं कितना नाच उठूंगा ! वैदिक ऋषिके हृदयमें ऐसा ही समुद्र हिलोरे मारता था—

"अंत·समुद्रे हृदि अंतरायुषि
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत् "

इस दिव्य भाषापर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोकी भी फजीहत होनेकी नौवत आ गई। कैसी वह घृतकी धारा ? कैसी वह मधुकी धारा ? क्या मेरे अंत समुद्रमें खारी लहरें उठेंगी ? नही, नही। मेरे हृदयमें तो दूध, मधु और घीकी लहरें हिलोरे मार रही हैं।

[३०]

हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखो। बाहरके निरभ्र नील आकाश को देखकर चित्तको भी निर्मल और निर्लेप बनाओ। सच पूछो तो चित्तकी-एकाग्रता एक खेल है। मामूली बात है। चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है। छोटे बच्चोकी आंखोकी ओर एक टक लगाकर देखो। छोटा बच्चा एक-सा टक लगाकर देखता है, लेकिन तुम दस बार पलक मारोगे। बच्चोका मन तुरन्त एकाग्र हो जाता है। चार-पांच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह एक-सा देखता रहेगा। स्त्रियोका तो ऐसा खयाल है कि बाहरकी हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रगकी हो जाती है। मानो सब इद्रियोंकी आखे बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मनपर किसी भी घटनाका बड़ा प्रभाव पडता है। शिक्षा-शास्त्री कहते हैं—शुरूके दो-चार सालोमें जो शिक्षा बालकोको मिल जाती है वही वास्तविक शिक्षा है। आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, संघ कायम कीजिए, शुरूमें जो शिक्षा मिली है, वह फिर कभी नही मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा सबंध है। दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता जा रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरभिक संस्कार वज्रलेप हो जाते है। बादके शिक्षणको बाहरी रंग, ऊपरी झिल्ली, समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल जाता है, परंतु चमडीका काला रंग कैसे चला जायगा ? उसी तरह जो संस्कार आदिमें पड जाता है, उसका मिटाना कठिन हो जाता है।

तो ये आदिके सस्कार बलवान् क्यों ? बादकें संस्कार कमजोर क्यों ? इसलिए कि बचपनमें चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो संस्कार पडते हैं, वे फिर नही मिटते। चित्तकी

एकाग्रताकी इतनी महिमा है; जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गई उसके लिए क्या अशक्य है ?

हमारा सारा जीवन आज 'कृत्रिम हो गया है। हमारी बाल-वृत्ति मर गई है, नष्ट हो गई है। जीवनमें वास्तविक सरसता नहीं; वह शुष्क हो गया है। हम ऊट-पटाग, जैसे-तैसे चल रहे है। डारविन साहब नही, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे है कि मनुष्यके पूर्वज बन्दर थे।

छोटा बच्चा विश्वास-शील होता है। मां जो कहे, वह उसके लिए प्रमाण। जो कहानियां उसे कही जाती है वे उसे असत्य नही मालूम होती। कौआ बोला, चिड़िया बोली, यह सब उसे सच मालूम होता है। बच्चोंकी इस मंगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है।

[२१]

तात्पर्य यह कि ध्यानयोगके लिए चित्त की एकाग्रता, जीवनकी परिमितता व शुभ साम्य-दृष्टिकी जरूरत है। इसके सिवा और भी दो साधन बताये जाते हैं—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाड़कर फेंकना विध्वसक काम हुआ। इसीको वैराग्य कहते है। उसमें बीज बोना विधायक काम है। मनमें सद्-विचारोंका पुन-पुन. चिंतन करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य विध्वंसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया। अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते है—आम मीठा है; परन्तु क्या यह मिठास निरे आममें है ? नही, निरे आममें नही है। हम अपनी आत्माकी मिठास वस्तुमें डालते है और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अत. भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाहय वस्तुमें मधुरता नहीं है, बल्कि वह 'रसाना रसतम' माधुर्य-सागर आत्मा मेरे निकट है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमे वैराग्यका संचार होता है। सीता माताने हनुमानको मोतियोका हार इनाममें दिया। हनुमान मोतियोको चबाता, देखता और फेंक देता। उनमें उसे कही 'राम' दिखाई नहीं देता था। राम तो था उसके हृदयमें। उन्ही मोतियोके लिए मूर्ख लोग लाख रुपये भी दे देते।

इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने एक बहुत ही महत्वकी बात शुरूमें ही बता दी है। वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ संकल्प करना चाहिए कि 'मुझे स्वतः अपना उद्धार करना है। मैं आगे बढूंगा। मैं ऊंची उडान मारूंगा। इस नर-देहमें मैं ज्यो-का-त्यो पडा नही रहूंगा। परमेश्वरके पास जानेका साहस करूंगा और ऐसा प्रयत्न भी करूंगा।'

यह सब सुनकर अर्जुनके मनमें शंका उठी कि "भगवन्, अब तो हमारी उमर बीत गई। कुछ दिनोमें हम मर जायगे तो फिर यह साधना क्या काम आयेगी।" भगवान्‌ने कहा—"मृत्युका अर्थ तो है लबी नीद।" रोज काम करके हम सात-आठ घटे सोते हैं। इस नीदसे कोई डरता है? बल्कि नीद न आये तो फिक्र पड़ जाती है। जैसे नीद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नीदसे उठकर फिर हम अपना काम प्रारभ कर देते है, वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी। ज्ञानदेवने 'ज्ञानेश्वरी' में इस प्रसगको लेकर लिखी ओवियोंमें मानो अपना आत्म-चरित ही लिख दिया हो—

"शैशवमें ही सर्वज्ञता। वरती है उन्हें।
सकल शास्त्र स्वयं ही। मुखसे निकलें।"

आदि चरणोमें यही दिखाई देता है। पूर्व-जन्मका अभ्यास तुम्हे खीच लेता है। किसीका चित्त विषयोंकी ओर जाता ही नही। वह जानता ही नही कि मोह कैसा होता है; क्योंकि पूर्व जन्ममें वह उनकी साधना कर चुका है।

"शुभकारी कभी कोई
पाता कुगतिको नहीं।"

जो मनुष्य कल्याण-मार्गपर चलता है, उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नही जाता। अतमें इस तरहकी श्रद्धा बताई गई है। जो कुछ अपूर्ण है, वह अन्तको पूरा होकर रहेगा। भगवान्‌के इस उपदेशका सार ग्रहण करो और अपने जीवनको सार्थक करो।

रविवार, २७-३-३२

सातवां अध्याय

[३२]

भाइयो, अर्जुनके सामने जब स्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ तो उनके मनमें स्वकीय व परकीयका मोह उत्पन्न हो गया और वह स्व-धर्माचरणसे बचनेकी तदबीर करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमें दिखाया गया। इस मोहको मिटानेकी तजवीजसे दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमें ये तीन सिद्धात बताये गए, (१) आत्मा अमर है और वह सर्वत्र व्याप्त है (२) देह नाशवान् है और (३) स्वधर्मका त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्याग-रूपी वह तरकीब भी बतलाई, जिससे उन सिद्धातोंपर अमल करनेकी कुंजी हाथ लग जाय। इस कर्म-योगका विवरण करते हुए उसमेंसे कर्म, विकर्म और अकर्म, ये तीन चीजें पैदा हुईं। कर्म-विकर्मके संगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पांचवें अध्यायमें हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म बतानेकी शुरुआत की गई। छठे अध्यायमें साधनाके लिए आवश्यक एका-ग्रताका महत्व बताया गया।

आज सातवां अध्याय है। इस अध्यायमें विकर्मका एक नया ही भव्य भवन खोल दिया गया है। सृष्टि-देवीके मंदिरमें, किसी विशाल वनमें, हम जिस तरह नाना प्रकारके मनोहर दृश्य देखते जाते हैं, वैसा ही अनुभव गीता-ग्रंथमें होता है। छठे अध्यायमें एकाग्रताका भवन देखा। अब हम जरा दूसरे भवनमें प्रवेश करें।

उस भवनका द्वार खोलनेके पहले ही भगवान्ने इस मोहकारिणी जगत्-रचनाका रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकारके कागदपर एक ही कूचीसे चित्रकार नानाविध चित्र निकालता है। कोई सितारी सात सुरोंसे ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मय बावन अक्षरोंकी सहा-

यतासे हम नाना प्रकारके विचार व भाव प्रकट करते है। वैसे ही इस सृष्टिको समझो। सृष्टिमें अनत वस्तुएं और अनत वृत्तिया दिखाई देती है। परंतु यह सारी अंतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखंड आत्मा व एक ही अष्टधा प्रकृति के इस दुहरे मसालेसे बनी हुई है। क्रोधी मनुष्यका क्रोध, प्रेमी मनुष्यका प्रेम, दु.खितका क्रंदन, आनंदीका हर्ष, आलसीका नीदकी ओर झुकाव, उद्योगीका कर्मस्फुरण—ये सब एक ही चैतन्य-शक्तिके खेल है। इन परस्पर-विरुद्ध भावोंके मूलमें एक ही चैतन्य यहा से वहातक भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरणका भी स्वरूप एक-सा ही है। चैतन्यमय आत्मा व जड प्रकृति, इस दुहरे मसालेसे सारी सृष्टि बनी है, जन्मी है यह आरभमें ही भगवान् बता रहे हैं।

आत्मा व देह, परा व अपरा प्रकृति, सर्वत्र एक ही है, फिर मनुष्य मोहमें क्यो पड जाता है? भेद क्यो दिखाई देता है? प्रेमी मनुष्यका चेहरा मधुर मालूम होता है, तो किसी दूसरेको देखकर तबियत हटती है। एकसे मिलनेकी व दूसरेसे परहेज करनेकी तबियत क्यो होती है? एक ही पेन्सिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार; परतु नाना चित्रोसे नाना भाव प्रकट होते है। चित्रकारकी यही कुशलता है। चित्रकारकी कूचीमें, सितारीकी उंगलियोंमें ऐसी कुशलता है कि वे हमें रुला देते है, हसा देते है। यह सारी खूबी उनकी उन उगलियोमें है।

यह नजदीक रहे, वह दूर रहे; यह मेरा, वह पराया, ऐसे जो विचार मनमें आते है, और जिनकी वजहसे समयपर कर्तव्यसे भी पीछे हटनेकी प्रवृत्ति होने लगती है, उसका कारण मोह है। इस मोहसे बचना हो तो उस सृष्टि-निर्माताकी उंगलीकी करामातका रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद्में नगारेका दृष्टात दिया गया है। एक ही नक्कारे-से भिन्न-भिन्न नाद निकलते है। कुछ नादोसे मै भयभीत हो जाता हूं, कुछको सुनकर नाच उठता हू। इन सब भावोको यदि जीत लेना है तो नक्कारा बजानेवालेको पकड लेना चाहिए। उसके पकडमें आते ही सारे नाद पकडमे आ जाते है। भगवान् एक ही वाक्यमे कहते है—"जो मायाको तैर जाना चाहते है, वे मेरी शरणमे आवें।"

यहां वही लीला से तरे, जो आये शरण मेरे,
उन्हें सूख गया इसी किनार माया-जल ॥

तो यह माया क्या है ? माया कहते है परमेश्वरकी शक्तिको, उसकी कला-कुशलताको । आत्मा व प्रकृति—अथवा जैन परिभाषामें कहे तो जीव व अजीव—रूपी इस मसालेसे जिसने यह अनत रगोवाली सृष्टि रची है, उसकी शक्ति अथवा कला ही माया है । जेलखानेमें जिस तरह एक ही अनाजकी वह रोटी और वही एक सर्व-रसी दाल होती है, वैसे ही एक ही अखड आत्मा व एक ही अष्ट-धा शरीर समझो । इससे परमेश्वर तरह-तरहकी चीजें वनाता रहता है । हम इन चीजोको देखकर भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी अच्छे-बुरे भावोका अनुभव करते है । इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शाति पाना चाहते है, तो इन वस्तुओके निर्माताको जा पकडना चाहिए, उससे परिचय कर लेना चाहिए । उससे जान-पहचान होनेपर ही इस भेद-जनक, आसक्ति-जनक मोहसे वचा जा सकेगा ।

उस परमेश्वरको समझ लेनेका एक महान साधन—एक महान् विकर्म—वतानेके लिए सातवें अध्यायमें भक्तिका भव्य भवन खुला कर दिया है । चित्त-शुद्धिके लिए यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यान-धारणा, इत्यादि अनेक विकर्म वताये जाते है, परतु इन साधनोको मै सोडा, साबुन, अरीठा—इनकी उपमा दूगा । लेकिन भक्तिको पानी कहूगा । सोडा, साबुन, अरीठा सफाई लाते है, परतु पानी के विना उसका काम नही चल सकता । पानी न हो तो उनमें क्या लाभ ? इसके विपरीत यदि सोडा, साबुन, अरीठा न हो, पर केवल पानी ही हो तो भी निर्मलता जरूर आ सकती है । उस पानीके साथ यदि ये पदार्थ भी हो, तो 'अधिकस्य अधिक फलम्' हो जायगा, दूधमे शकर पडी कहेगे । यज्ञ, याग, ध्यान, तप, इन सवमें यदि हार्दिकता न हो, तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे ? हार्दिकताका ही अर्थ है भक्ति ।

सव प्रकारके साधनोको भक्तिकी जरूरत है । भक्ति एक सार्वभौम उपाय है । कोई सेवा-शास्त्रका जानकार, उपचारोसे भलीभाति परिचित मनुष्य किसी रोगीकी सेवा सुश्रूषाके लिए जाता है; पर यदि

उसके मनमें सेवाकी भावना न हो तो वताओ, सच्ची सेवा कैसे वनेगी ? बैल भले ही खासा मोटा-ताजा हो, पर यदि गाडी खीचनेकी इच्छा ही उसे न हो तो वह कघा डालकर बैठ जायगा—और सभव है कि गाडीको किसी खड्डेमें भी गिरा दे। जिस कार्यमे हार्दिकता नही है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि ।

[३२]

यह भक्ति होगी तो उस महान् चित्रकारकी कलाको हम देख सकेंगे। उसके हाथ की वह कलम हम देख सकेंगे। जहा एक वार उस उद्गमके झरनेको व वहाके अपूर्व मधुर रसको चख लिया, तो फिर बाकीके सव रस तुच्छ व नीरस मालूम होगें। जिसने वास्तविक केले खा लिये, वह लकड़ीके रगीन केले हाथमें लेगा, और 'वड़े सुदर हैं' कहकर एक ओर रख देगा। असली केलोका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोंके प्रति कोई उत्साह नही रहता है । इसी तरह जिसे असली झरनेकी मिठासका मजा आ गया है, वह वाहरके गुलाब-शर्वतपर लट्टू नही होगा ।

एक दार्शनिक-तत्वज्ञानीको लोगोने कहा—"महाराज, चलिये शहरमें आज वडी आराइश की गई है।" दार्शनिकने कहा—"भाई, यह आराइश क्या होती है ?" एक दिया, इसके वाद दूसरा, फिर तीसरा, इस तरह लाख, दस लाख, करोड़, जितने चाहे समझ लो। गणित श्रेढीमें होता है, १+२ +३ इत्यादि अनत तक। संख्या-संख्यामें जो अंतर रखना हो, वह यदि मालूम हो जाय तो फिर सारी संख्या लिखनेकी जरूरत नही रहती। उसी तरह वे दिये एकके वाद एक रख दिये। इनमें इतना मशगूल होने जैसी कौनसी बात है ? परतु मनुष्यको ऐसे आनंद प्रिय होते है। वह नीबू लायेगा, शकर लायेगा, पानीमें उसे घोलेगा और फिर वडे स्वादसे पीकर कहेगा—"वाह, क्या बढिया शिकंजी वनी है।" जवानको जायका लेनेके सिवा और काम ही क्या है ? यह इसमें मिलाओ, वह उसमें मिलाओ। ऐसी चाट खानेमें ही उसे सारा मजा। वचपनमें एकवार मैं सिनेमा देखने गया था। साथमे एक टाटका टुकडा ले गया था। मतलब यह कि नीद आने लगे तो सो जाऊं। परदेपर आंखोंको चौंघिया देनेवाली वह आग मैं देखने लगा।

दो ही चार मिनटमें उन अग्नि-चित्रोको देखकर मेरी आंखें थकने लगी। मै अपने टाटपर सो गया और कहा, कि जब खतम होजाय तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामें आकाशके चाद-तारे देखना छोडकर, शात सृष्टिका वह पवित्र आनद छोड़कर, उस कुद थियेटरमें आगकी पुतलियोको नाचते देखकर तालिया पीटते है! मेरी समझमें ही यह सब न आता था।

मनुष्य इतना निरानद कैसे? उन निर्जीव पुतलियोंको देखकर आखिर बेचारा किसी तरह थोडा आनद प्राप्त कर लेता है। जीवनमें जबकि आनद नही है, तो फिर ऐसे कृत्रिम आनद खोजते है। एक बार हमारे पड़ौसमें 'टमटम' बजना शुरू हुआ। मैने पूछा—"यह बाजा क्यो?" तो कहा गया—"लडका हुआ है!" दुनियामें क्या एक तुम्हारे ही लडका हुआ है? जो 'टमटम' बजाकर दुनियाको कहता है कि मेरे यहा लडका हुआ है? नाच, गान, खेल होते है—इसलिए कि लडका हुआ है। यह सब लडकपन नही तो क्या है? मानो आनदका अकाल ही पड गया है। अकालके दिनोमें जैसे कही अनाजका दाना दिखते ही लोग टूट पडते है, उसी तरह जहा लडका हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनद के भूखे-प्यासे बेचारे टिड्डीकी तरह टूट पडते है।

क्या यह सच्चा आनन्द है? गाना कानोमें घुसकर उसकी लहरें दिमागको धक्का पहुचाती है। आखोमें रूप घुसकर दिमागको धक्का देता है। इस धक्के लगनेमे ही बेचारोका यह आनद समाया रहता है। कोई तमाखू कूटकर उसे नाकमें घुसेडता है, कोई उसकी बीडी बनाकर मुहमें खोसता है। उस सुघनीका या उस धुएका धक्का लगा तो मानो उन्हे आनन्दकी गठरी मिल जाती है! बीडीका ठूठ मिलते ही उसके आनन्द की सीमा नही रहती। टॉल्स्टाय लिखते है—"उस सिगरेटकी खुमारीमें वह कभी किसीका खून भी कर डाले तो आश्चर्य नही।" वह एक प्रकारका नशा ही समझो!

ऐसे आनन्दमें मनुष्य क्यो मस्त हो जाता है? क्योकि उसे वास्तविक आनदका पता नही है। मनुष्य परछाईमें ही पागल हो रहा है। आज वह पाच ज्ञानेन्द्रियोका ही आनद ले रहा है। यदि आखकी इद्रिय उसके न

होती तो वह चार ही इंद्रियोंका आनंद ससारमे मानता । कलको यदि मगल ग्रहसे कोई छः इंद्रियवाला मनुष्य नीचे उतर आये, तो ये बेचारे पाच इद्रियोवाले खिन्न होगे और रोते रोते व कहेगे कि "इसके मुकावले हम कितने दीन-हीन है ।"

सृष्टिका सारा अर्थ इन पाच इद्रियोको कैसे मालूम होगा ? इन पांच विषयोमें भी फिर वह चुनाव करता है और उनमें रमता रहता है। गधेका रेंकना उसके कानोमें गया तो कहता है कि कहासे यह अशुभ आवाज आ गई। तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे उस गधेका कुछ अशुभ नही होगा ? तुम्हीको अलवत्ते उससे नुकसान होता है । क्या दूसरोका तुमसे कुछ नही बिगडता ? मान लिया है कि गधेका रेकना अशुभ है । एक बार मेरे बडौदा कालेजमें रहते हुए कुछ योरोपियन गायक आये । थे तो वे उत्तम गवैये । अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे; परतु मै सोच रहा था कि कब यहासे भाग छूटू, क्योकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नही थी। मैंने उन्हे फेल कर दिया । हमारी तरफके गवैये यदि उधर गये तो कदाचित वे वहा फेल समझे जायगे । इस तरह सगीतसे एकको आनद होता है तो दूसरेको नही । मतलब यह सच्चा आनद नही है, मायावी आनद है। जबतक वास्तविक आनदका दर्शन न होगा, तबतक इस झूठे, धोखादेह आनंदमें ही झूलते रहेगे । जबतक असली दूध नही मिला था, तबतक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध कहकर पीता था । इस तरह जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेगे, उसका आनद चख लेगे, तो फिर दूसरी सब चीजें फीकी लगेंगी ।

इस आनदका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है भक्ति । इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरी कुशलता मालूम हो जायगी । उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाए अपनेआप विलीन हो जायगी । फिर क्षुद्र आकर्षण नही रह जायगा । फिर ससारमे एक ही आनद भरा हुआ दिखाई देगा । मिठाईकी दूकान भले ही सैकडो हो, परतु मिठाइयोका प्रकार सबमें एक-सा होता है । सो, जबतक असली चीज हाथ न लगेगी, तबतक हम चंचल चिडियाकी तरह एक चीज यहाकी खायगे, एक वहाकी । सुबह मै तुलसी रामायण पढ रहा था । दियेके पास कीडे जमा हो रहे थे;

इतनेमें वहा एक छिपकली आई। उसे मेरी रामायणसे तो क्या लेना देना था! कीडे देखकर उसे कितना आनद हो रहा था! वह कीडोपर झपटनेवाली थी, कि मैंने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गई। परतु उसका ध्यान एक-सा लगा था कीडेकी ओर। मैंने अपने मनमें कहा—"तू खाती है इस कीडेको? तेरी जबानमें लार टपकती है?" मेरी जबानमें लार नही टपकी। जिस रसका आनद मैं लूट रहा था, उसका उस बेचारी छिपकलीको क्या पता? वह रामायणका रस नहीं चख सकी थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोमे मस्त है। परतु यदि सच्चा रस मिल जाय तो क्या बहार हो? भगवान् भक्ति-रूपी एक साधन दिखा रहे है, जिससे हम उस असली रसको पा व चख सकें।

[३४]

भगवान्ने भक्तके तीन प्रकार बतलाये है—(१) सकाम भक्ति करनेवाला, (२) निष्काम परन्तु एकागी भक्ति करनेवाला, (३) ज्ञानी अर्थात् सपूर्ण भक्ति करनेवाला। निष्काम परतु एकागी भक्ति करनेवालेके तीन प्रकार है—(१) आर्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी। भक्ति-वृक्षकी ये शाखा प्रशाखाए है।

तो सकाम भक्तका अर्थ क्या? कुछ इच्छा मनमें रखकर भगवानके पास जानेवाला। मैं उसकी यह कहकर निंदा न करूगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकारकी है। कई लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमें इसीलिए कूदते है कि मान-सम्मान मिले। इसमें नुकसान क्या है? आप उन्हे मान दीजिए। उनका खूब सम्मान कीजिए। इस सम्मानसे कुछ बिगाड न होगा। ऐसा मान मिलते रहनेसे, फिर आगे चलकर सार्वजनिक सेवामें वे सुस्थिर हो जायंगे। फिर उसी काममें उन्हे आनद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी जो इच्छा होती है, उसका भी अर्थ आखिर क्या है? यही कि उस सम्मानसे हमें यह निश्चय, विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते है, वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी या बुरी, यह समझनेके लिए जिसके पास कोई आतरिक साधन नही है, वह इस बाह्य साधनका अवलबन लेता है। माने बच्चेकी पीठ ठोककर कहा 'शाबाश', तो उसकी तबियत

होती है कि माका और काम भी करें। यही बात सकाम भक्तिकी है। सकाम भक्त परमेश्वरके पास जाकर कहेगा—'दो'। सबकुछ परमेश्वरसे मागनेकी प्रवृत्ति होना कोई मामूली बात नही। यह असाधारण बात है। ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा—"तीर्थयात्राको चलोगे न ?" नामदेवने पूछा—"किसलिए ?" ज्ञानदेवने जवाब दिया—"साधुसतोका समागम होगा।" नामदेवने कहा—"तो भगवान्से पूछ आता हू।" नामदेव मदिरमें जाकर भगवान्के सामने खडे हो गये। उनकी आखोसे आसू बहने लगे। भगवान्के उन समचरणोकी ओर ही वह देखते रहे। अतको रोते-रोते उन्होने पूछा—"प्रभो, क्या मैं जाऊ ?" ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेगे ? ऐसे लोग कम नही है जो स्त्री घरमें न होने से रोते है। परंतु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला भक्त भले सकाम ही क्यो न हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच मागने योग्य है, उसे वह नही मांगता; परतु इतनेके लिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नही मानी जा सकती।

स्त्रिया सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती है, काकडा[1] आरती करती है, तुलसीकी प्रदक्षिणा करती है। किसलिए ? मरनेके बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ऐसी भोली धारणा हो सकती है। परतु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती है। ऐसे व्रत-शील परिवारमे महापुरुषोका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमें रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके ज्ञाता थे। किसीने कह दिया—"तुलसीदासके कुलमें जन्मे हो, और तुम संस्कृत नही जानते हो ?" रामतीर्थको यह बात चुभ गई। कुलस्मृति का यह कितना सामर्थ्य ! इससे प्रेरित होकर वे सस्कृतके प्रगाढ अध्ययनमें जुट पडे। स्त्रिया जो भक्तिभाव रखती है, उसकी दिल्लगी न उडानी चाहिए। जहा भक्तिका ऐसा एक-एक क्षण सचित होता है, वहा तेजस्वी संतति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान् कहते है—"मेरा भक्त सकाम होगा, तो भी उसकी भक्तिको दृढ करूगा। उसके मनमें गोलमाल नही

[1] सुबह की जानेवाली विशिष्ट आरती, बड़ी बातीवाली।

होने दूंगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो, तो मैं उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूगा। किसी भी निमित्तसे क्यो न हो, वह मेरे पास आवेगा तो मैं उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसकी कद्र ही करूंगा।" ध्रुवका ही उदाहरण लीजिए। पिताजीकी गोदीमें बैठने न पाया तो उसकी माने कहा, "ईश्वरसे स्थान माग।" वह उपासनामें जुट पडा। भगवान्‌ने उसे अचल स्थान दे दिया। मन यदि निष्काम न हो, तो भी क्या हुआ? असल बात यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, मागना किससे है? ससार के सामने हाथ न पसारकर ईश्वरको मनानेकी वृत्तिका महत्त्व कम न आकना चाहिए।

निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मदिरमें जाओ तो। शुरूमे यदि कामना लेकर भी आये होगे तो भी आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रदर्शिनिया की जाती है। उनके सचालक कहते है—"अजी, आप आकर तो देखिए, कैसी बढ़िया, रगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नमूने तो देखिए।" गाहक आता है व प्रभावित होता है। यही बात भक्तिकी है। भक्ति-मदिरमें एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहाका सौदर्य व सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगा। स्वर्ग जाते हुए धर्मराजके साथ अतको एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन, सब रास्तेमें गल गए। स्वर्ग-द्वारके पास धर्मसे कहा गया—"तुम आ सकते हो, परतु यह कुत्ता नही आ सकता।" धर्मने कहा—"अगर मेरा कुत्ता नही आ सकता तो मैं भी नही आ सकता।" अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यो न हो, परतु दूसरे 'मैं-मैं' करनेवालोसे तो वह श्रेष्ठ ही है। और वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वरकी ओर जानेवाला भले ही एक कीडा ही क्यो न हो, वह परमेश्वरकी ओर न जानेवाले बडे-से-बडे व्यक्तिसे श्रेष्ठ व महान् है। मदिरमें कछुए व नदीकी मूर्तिया होती है, परतु उस नदी—बैलको सब नमस्कार करते है; क्योकि वह साधारण बैल नही है। वह भगवान्‌के सामने रहता है। बैल होनेपर भी यह नही भूल सकते कि वह परमेश्वरका है। बडे-बडे बुद्धिमानोकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। एक बावला जीव भी क्यो न हो, वह यदि भगवान्‌का स्मरण करता है तो विश्व-वन्द्य हो जाता है।

एक बार मैं रेलमें जा रहा था। यमुनाके पुलपर गाडी आई।

पासमें एक आदमीने वडे पुलकित हृदयसे उसमे एक धेला डाल दिया। पडोसमें एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे—"देश पहले ही कगाल है, और ये लोग यो व्यर्थ पैसा फेंकते है।" मैंने कहा—"आपने उसके हेतुको पहचाना नही। जिस भावनासे उसने धेला-पैसा फेंका, उसकी कीमत दो-चार पैसे भी हो सकती है या नही ? यदि दूसरे सत्कार्यके लिए ये पैसे दिये होते, तो यह दान और भी अच्छा हुआ होता। किंतु इस वातका विचार पीछे करेंगे। परंतु उस भावनाशील मनुष्यने तो इसी भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी क्या, ईश्वरकी करुणा ही वह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थ-शास्त्रमें कोई स्थान है क्या? देशकी एक नदीको देखकर उसका अत करण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्र कर सकें तो मै आपकी देश-भक्तिको परखूगा।" देश-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है ? देशकी एक महान नदीको देखकर यदि यह भावना मनमें जगती है कि अपनी सारी सपत्ति इसमें डुबो दू, उसके चरणोमें अर्पण कर दू, तो यह कितनी बडी देश-भक्ति है ? वह सारी धन-दौलत, वे सब हरे-पीले पत्थर, कीडोकी विष्ठासे वने मोती व कोयलेसे वने हीरे—इन सबकी कीमत पानीमें डुबो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोके आगे ये सब धूल, तुच्छ समझो। आप कहेंगे कि नदीका व परमेश्वरके चरणोका क्या सबध ? आपकी सृष्टिमें परमात्माका कुछ संबंध है भी ? नदी है, आक्सिजन व हाइड्रोजन। सूर्य है, गैसकी बत्तीका एक वड़ा-सा नमूना। उसे नमस्कार क्या करे ? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको। फिर उस रोटीमें भी भला क्या है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यो इतनी लार टपकाते हो ? इतना बडा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुदर नदी वह रही है—इनमें यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा तो फिर होगा कहा ?" अग्रेज कवि वर्डस्वर्थ बडे दु खसे कहता है—"पहले जब मैं इद्र-धनुष देखता था, तो मै नाच उठता था। हृदय हिलोरें मारने लगता था। पर आज मै क्यो नहीं नाच उठता ? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कही मै पत्थर तो नही होगया ?"

मतलब यह कि सकाम भक्ति अथवा गवार मनुष्यकी भावनाका

भी बडा महत्त्व है। अतमें इससे महान् सामर्थ्य पैदा होता है। जीवधारी कोई भी व कैसा ही हो, वह जब एक बार परमेश्वर के दरबारमे आ जाता तो फिर मान्य हो जाता है। आगमें किसी भी लकडीको डालिये, वह जल ही उठेगी। परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा। आगे जाकर वह भक्ति निष्कामता व पूर्णताकी ओर चली जायगी।

[३५]

सकाम भक्त यह एक प्रकार हुआ। अब निष्काम भक्ति करनेवालोंसे मिलें। इनमें भी और दो प्रकार—एकागी और पूर्ण। एकागी के तीन प्रकार। उनमें पहला प्रकार आर्त्त भक्तोका। आर्त्त होता है दया-प्रार्थी भगवान्के लिए रोने-चिल्लाने व छटपटानेवाला, जैसे नामदेव। वह इस बातके लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान् के प्रेम-रसका पान करूगा, कब उससे गले लिपटकर जीवनको कृतार्थ करूगा, कब उसके चरणोमें अपनेको डालकर धन्य होऊगा। प्रत्येक कार्यमें वह यह देखेगा कि सच्चाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम उसमें है या नही? दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओका। फिलहाल अपने देशमें इस श्रेणीके भक्त बहुत नही है। इस कोटिके भक्त कोई गौरीशंकर पर बार-बार चढेंगे व मरेंगे, कोई उत्तर ध्रुवकी खोजमें निकलेंगे और अपनी खोजके फल कागजपर लिखकर उन्हें बोतलमें बद करके पानीमें छोडकर मर जायंगे, कोई ज्वालामुखीके उदरमें उतरेंगे। अभी तो हिंदुस्तानियोंके लिए मौत एक हौआ हो बैठी है। कुटुब और परिवारके भरण-पोषणसे बढकर कोई पुरुषार्थ ही नही रहा है। जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुखके द्वारा अतमें समुद्रको पा जाता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अतको परमेश्वरतक पहुच जायगा। तीसरा वर्ग है अर्थार्थियोका। अर्थार्थीका अर्थ है प्रत्येक बातमें अर्थ देनेवाला। 'अर्थ' का यहा रुपये-पैसोंसे मतलब नही, बल्कि हित-कल्याणसे है। किसी भी बातकी जाच करते समय वह उसे इस कसौटीपर कसेगा कि इसके द्वारा समाजका क्या कल्याण होगा? वह देखेगा कि मै जो कुछ कहता, लिखता, करता हू, उससे ससारका मंगल

होगा या नही ? निरुपयोगी अहितकर क्रिया उसे मजूर न होगी। ससार के हितकी चिंता करनेवाला कितना वडा महात्मा है! जगत्का कल्याण ही उसका आनद है। जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाओको देखता है वह आर्त्त ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है वह जिज्ञासु व सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है वह अर्थार्थी।

ये तीनो भक्त है तो निष्काम, परतु एकागी है। एक कर्मके द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धि के द्वारा, ईश्वरके पास पहुचता है। अब रहा बाकी पूर्ण भक्तका प्रकार। इसीको ज्ञानी भी कह सकते है। इस भक्तको जो कुछ दीखता है, सो सब परमेश्वरका ही रूप। कुरूप-सुरूप, राव-रक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन।

नर नारी बच्चे सब ही नारायण।
ऐसा मेरा मन बनाओ प्रभु॥

संत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है। हिंदू-धर्ममे जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूड रखनेवाले देवताकी पूजा, पेडोकी पूजा आदि पागलपनके नमूने हैं, उनसे भी अधिक पागलपनकी कमाल ज्ञानी भक्तोके यहा हुई दीखती है। उनसे कोई भी क्यो न मिले, उन्हें चीटीसे लेकर चद्र-सूर्यतक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उनका हृदय आनदसे हिलोरे मारने लगता है।

फिर वह सुख अनंत-अपार।
आनदसे सागर हिलोरता॥

ऐसा जो यह दिव्य व भव्य दर्शन है, उसे भले ही आप भ्रम कहें। परंतु यह भ्रम सौख्यकी राशि हैं, आनदका स्थान-निधि है। गभीर सागरमें उसे परमेश्वरका विलास दिखाई देता है, गो-माता में उसे ईश्वर-का वात्सल्य नजर आता है, पृथ्वीमें उसकी क्षमता दीख पडती है, निरभ्र आकाशमे उसकी निर्मलता, रवि-चद्र-तारोमें उसका तेज व भव्यता दीखती है। फूलमे उसकी कोमलता, दुर्जनोमें अपनी परीक्षा करनेवाला परमे-श्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है'—यह देखनेका अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते है। ऐसा करते हुए वह—ज्ञानी भक्त—एक दिन ईश्वरमें ही मिल जाता है।

रविवार, ३-४-३२

आठवां अध्याय

[३६]

मनुष्यका जीवन अनेक सस्कारोसे युक्त होता है। हमसे असंख्य क्रियाएं होती रहती हैं। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगें तो उसका अत ही नहीं आ सकता। यदि मोटे तौरपर हम चौवीस घटोकी ही क्रियाओंको देखने लगें, तो उनकी गिनती कितनी वढ जायगी। खाना, पीना, वैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, वोलना, पढना—इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दु ख आदि अनत प्रकार दिखाई देंगे। इन सवके सस्कार हमारे मन पर होते रहते हैं। अत अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन किसे कहते हैं, तो मैं उसकी व्याख्या करूंगा—सस्कार-सचय।

सस्कार दोनों प्रकारके होते हैं—अच्छे भी और वुरे भी। दोनो का प्रभाव मनुष्यके जीवनपर पड़ता रहता है। वचपनकी क्रियाओंकी तो हमें याद भी नही रहती। मारा वालपन इस तरह मिट जाता है, जैसे स्लेटपर लिखकर पोछ दिया हो। पूर्व-जन्मके सस्कार तो विलकुल ही साफ पोछ दिये जैसे हो जाते है—यहातक कि इस वातकी भी शका उठ सकती है कि पूर्व-जन्म था भी या नही। जव इस जन्मका ही वचपन याद नही आता, तो फिर पूर्व-जन्मकी तो वात ही क्या ? पूर्व-जन्मको जाने दीजिए, हम इसी जन्मका विचार करे। जितनी क्रियाए हमें याद रहती हैं, उतनी ही होती है—सो वात नही। क्रियाए अनेक होती है और ज्ञान भी अनेक; परतु ये क्रियाए व ज्ञान मिटकर अतमें कुछ सस्कार ही शेष रह जाते हैं। रातको सोते समय दिनकी सव क्रियाओंको यदि हम याद करने लगें तो भी याद नही आती। याद कौनसी क्रियाए आती है ? वे ही क्रियाए हमारी आखोके सामने आ जाती है, जो वहुत स्पष्ट व प्रभावकारी

होती है। यदि हमारा बहुत लडाई-झगडा किसीसे हुआ हो, तो वह याद रहता है, क्योकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई होती है। मुख्य व स्पष्ट क्रियाओके सस्कार मनपर बडे गहरे हो जाते है। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड जाती है। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठें तो दो ही चार महत्वकी बातें लिख लेते है। यदि प्रतिदिनके ऐसे सस्कारको लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लगें तो और भी कई बातें इसमेंसे निकल जायगी व सप्ताहकी मुख्य घटनाए ही कायम रह जायगी। फिर महीनेभर बाद हम अपने पिछले कामोका हिसाब लगाने बैठें तो उतनी ही बातें हमारे सामने आती रहेंगी, जो उस मासमें बहुत मुख्य-मुख्य रही होगी। इसी तरह फिर छ' महीना, साल, पाच सालका हिसाब लगावें तो बहुत ही थोडी महत्त्वपूर्ण बाते याद रहेंगी और उन्हीके सस्कार बनेंगे। असंख्य क्रियाओ व अनन ज्ञानोके हो जानेपर भी अतको मनके पास बहुत थोडी बचत रहती है। वे विभिन्न कर्म व ज्ञान आये व अपना काम करके मर गये। उन सब कर्मोके पाच-दस दृढ सस्कार ही शेष रह जाते है। ये संस्कार ही हमारी पूजी है। हम जीवन-रूपी व्यापार करके सिर्फ संस्कार-रूपी सपत्ति जोडते है। जैसे व्यापारी रोजका, महीनेका व साल भरका जमा-खर्च करके अतमें नफे या टोटेका एक ही आकडा निकालता है, उसी प्रकार जीवनका हाल होता है। अनेक सस्कारोका जमा-नामे होते-होते अतको एक अत्यत ठोस, सीमित निचोड जैसी चीज बाकी बच जाती है। जब जीवनकी अतिम घडी आती है, तब जीवनकी आखिरी रोकड बाकी आत्मा याद करने लगता है। जन्म भरमें क्या-क्या किया— इसकी जब वह याद करता है, तो सारी कमाईके रूपमें दो-चार बातें ही नजर आती है। इसका यह अर्थ नही कि वे सब कर्म व ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया है। हजारो उखाड-पछाडके बाद अखीरमें कुल पाच हजारका घाटा-नफा या दस हजारका नफा, इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है। नुकसान हुआ तो छाती बैठ जाती है, फायदा रहा तो दिल उछलने लगता है।

हमारे जीवनकी भी ऐसी ही बात है। मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई, तो सारी जिन्दगी भर भोजनकी रुचि लेनेका ही अभ्यास करते

रहे यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना, यही जिंदगी भरकी कमाई। किसी माताको मरते समय यदि बेटेकी याद हो आई, तो उसका पुत्र-संबंधी संस्कार ही बलवान् मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये, वे गौण सिद्ध हो गए। अंकगणितमें अपूर्णांकके सवाल होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएं, परंतु संक्षेप बनाते-बनाते अंतको एक अथवा शून्य ऐसा उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमें संस्कारोंकी अनेक संख्याएं चली जाकर अंतमें एक बलवान् संस्कार ही सार-रूपमें रह जाता है। जीवन-रूपी सवालका वह उत्तर होता है। अंतकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अंतिम सार मधुर निकले, अंतकी यह घड़ी मधुर हो, इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिए। जिसका अंत मधुर, वह सब मधुर। इस अंतिम उत्तर पर ध्यान रखकर सारे जीवनका सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना बनाओ। जब कोई सवाल हल करते हो तो जो खास प्रश्न पूछा गया है, उसीको सामने रखकर उत्तर लाते हैं। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पड़ता है। अतः मरनेके समय जो संस्कार दृढ़ रहे, या उठें—ऐसी इच्छा होगी, उसके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोड़ना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

[३७]

इस आठवें अध्यायमें यह सिद्धांत बताया गया है कि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है वही अगले जन्ममें बलवत्तर साबित होता है। इस पाथेयको साथ लेकर जीव आगे यात्राके लिए निकलता है। आज दिनकी कमाई लेकर, नींदके बाद हम कलका दिन शुरू करते हैं। उसी तरह इस जन्मकी जमा-पूंजी लेकर मरण-रूपी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अंत है वही अगले जन्मकी शुरुआत होती है। अतः सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत और भी इसलिए है कि मृत्युकी भयानकताका मुकाबला किया जा सके, उसका रास्ता निकाला जा सके।

एकनाथ महाराजकी एक बात है। एक सज्जनने उनसे पूछा—"महाराज, आपका जीवन कितना सीधा-सादा, कितना निष्पाप! हमारा जीवन ऐसा क्यो नही? आप कभी किसीपर गुस्सा नही होते, किसीसे लडाई-झगडा नही, टटा-बखेडा नही। कितना शांत, कितना प्रेमपूर्ण, कितना पवित्र है आपका स्वभाव!" एकनाथने कहा—"फिलहाल मेरी बात रहने दो। तुम्हारे संबंधमें मुझे एक बात मालूम हुई है। आजसे सातवें दिन तुम्हारी मौत आ जायगी।" अब एकनाथकी कही बात को झूठ कौन मानता? सात दिनमें मृत्यु। सिर्फ १६८ ही घंटे बाकी रहे। हे भगवन्, यह क्या अनर्थ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड़ गया। कुछ सूझ नही पडता था। आखिरी समयकी, सबकुछ समेट लेनेकी बातें कर रहा था। अब बीमार हो गया। बिस्तरपर पड गया। छ: दिन बीत गये—सातवें दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा—"क्या हाल है?" उसने कहा—"बस, अब चला।" नाथजीने पूछा—"इन छः दिनोमें कितना पाप किया?—पापके कितने विचार मनमें आये?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला—"नाथजी, पापका विचार करनेकी तो बिलकुल फुरसत ही नही मिली। मौत एक-सी आखोके सामने खडी थी।" नाथजीने कहा—"हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यो है—इसका उत्तर अब मिल गया न? मरण-रूपी शेर सदैव सामने खडा रहे तो फिर पाप सूझेगा किसे? पाप करनेके लिए भी निश्चिन्तता चाहिए। मरणका सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय है। यदि मौत सामने दीखती रहे तो फिर मनुष्य किस बल पर पाप करेगा?"

परंतु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है। पास्कल नामक एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया है। उसकी एक पुस्तक है—'पासें'। 'पासें' का अर्थ है 'विचार'। उसने इस पुस्तकमें भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये है। उसमें वह एक जगह कहता है—"मौत सदा पीछे खडी है; परतु मनुष्य का यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे? किंतु वह यह बात अपने सामने नही रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चलें?" मनुष्य को 'मरण' शब्दतक बरदाश्त नही होता। खाते समय यदि मौतका नाम

किसीने ले लिया तो कहते हैं—"क्या अशुभ बात मुहसे निकालते हो?" परंतु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मौतकी तरफ जा ही रहा है। बंबईका टिकट कटाकर जब एक बार हम रेलमें बैठ गये तो हम भले ही बैठे रहें, परन्तु गाडी हमें बबई ले जाकर छोड देगी। जन्म होते ही हमने मौतका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिये या दौडते रहिये। बैठे रहेंगे तो भी मौत आवेगी, दौडते रहेंगे तो भी आवेगी। आप मौतका विचार करें या न करें, वह आये विना न रहेगी। मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हो। सूर्य अस्ताचलकी ओर गया कि हमारी आयु का एक अंश वह खा जाता है। जीवनके भाग यों कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूंद घट रहा है। तो भी मनुष्यको उसका कुछ सोच नही होता। ज्ञानेश्वर कहते है—"आश्चर्य दीखता है।" ज्ञानदेवको आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्यों कर इतनी निश्चिन्तता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय मालूम होता है कि उसे मरणका विचारतक सहन नही होता। वह सदा उसके विचार व खयाल तकमें बचना चाहता है। आखो पर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लडाईमें जानेवाले सैनिक, मरणका खयाल न आने पावे इसलिए खेलते हैं, नाचते-गाते है, सिगरेट पीते है। पास्कल कहता है कि "मरण सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमें व गान-तानमें मस्त हो रहेगा।"

हम सब उस टामीकी तरह है। चेहरेको गोल हसमुख बनानेका प्रयत्न करना, रूखा हो तो तेल, पाउडर लगाना, बाल सफेद हो गये हो तो खिजाब लगाना—आदि प्रयत्न मनुष्य करता है। छातीपर मौत नाच रही है—फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अक्षय प्रयत्न कर रहे है। और चाहे कुछ भी बातें करेंगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेंगे। मैट्रिक-पास लडकेसे पूछो कि "अब आगे क्या इरादा है?" तो कहता है—"अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्ट इयरमें हू।" दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—"पहले इटर तो हो जाने दो, फिर देखेंगे।" यही सिल-सिला चलता है। जो आगे होनेवाला है, उसका पहलेसे विचार क्या नही करना चाहिए? अगले कदमके बारेमें पहलेसे सोच लेना चाहिए, नही तो वह गड्ढेमें गिरा सकता है; परंतु विद्यार्थी इसको टालता है। बेचारे-

की शिक्षा ही इतनी अधकार-मय होती है कि उससे उस पारका भविष्य दिखाई ही नही देता। अत: आगे क्या करना है, यह सवाल ही वह सामने नही आने देता; क्योकि उसे चारो ओर अधकार ही दिखाई देता है। परंतु भविष्य टाला नही जा सकता। वह तो सिरपर आकर सवार होता ही है।

कालेजमें प्रोफेसर तर्क-शास्त्र पढाता है—"मनुष्य मर्त्य है। सुकरात मनुष्य है, अत: सुकरात मरेगा।" यह अनुमान वह सिखाता है—वह सुकरातका उदाहरण देता है, खुद अपना क्यो नही देता? प्रोफेसर भी मर्त्य है। वह यो नही सिखावेगा कि "सब मनुष्य मर्त्य है, अत: मै प्रोफेसर भी मर्त्य हू और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।" वह उस मरणको सुकरात पर ढकेल देता है; क्योकि सुकरात तो मर चुका है। वह शिकायत करनेके लिए हाजिर नही है। शिष्य व गुरु, दोनो सुकरातको मरण सौंपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप' 'मेरी भी चुप' वाली गति करते है। मानो वे यह समझे बैठे है कि हम तो बहुत सुरक्षित है।

इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र जान-बूझकर हो रहा है। परंतु इससे मृत्यु कही टल सकती है? कल मां मर गई तो मौत सामने आ गई। मनुष्य निर्भयता-पूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नही करता कि उसमेंसे रास्ता कैसे निकाला जाय। किसी हिरनका पीछा एक शेर कर रहा हो। चपल होने से हिरन खूब चौकडी भरता है, परंतु उसकी शक्ति कम पडती जाती है व अखीरमें वह थकता है। पीछेसे वह शेर-मृत्यु दौडा आ ही रहा है। उस समय उस हिरनकी क्या दशा होती है? वह उस शेरकी ओर देख भी नही सकता। वह मिट्टीमें सीग व मुह घुसेडकर खडा हो जाता है, मानो निराधार होकर कहता है—"ले, अब आ व मुझे हडप जा।" हम मरणको अपने सामने नही देख सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारो तरकीब निकालेंगे तो भी उस मृत्यु का जोर इतना होता है कि अतमें वह हमारी गर्दन धर दबाता ही है।

और फिर जब मौत आती है तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड बाकी देखता है। परीक्षामें बैठा हुआ आलसी—मद विद्यार्थी दवातमें कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परंतु सफेद पर काला करनेकी हिम्मत नही होती। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नही? सरस्वती आकर

थोड़े ही जवाब लिख जायगी ? तीन घंटे खतम हो जाते हैं—वह कोरा कागज दे देता है या अखीरमें कुछ-न-कुछ घिस-घिसाकर दे जाता है। सवालको हल करना है, जवाब लिखना है, यह सूझता ही नहीं ! इधर देखना है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अतः हमें चाहिए कि हम इन बातको याद रखकर, कि जीवनका सिरा मौतकी ओर गया हुआ है, अंतिम क्षणको पुण्य-मय, अत्यंत पावन व मधुर बनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहें। आजसे ही इस बातका विचार करते रहना चाहिए कि मनपर ऊंचे-से-ऊंचे सुंदर-से-सुंदर संस्कार कैसे पड़ें। परंतु अच्छे संस्कारोंके अभ्यासकी पड़ी किसे है ? उससे उलटा, बुरी बातोंका अभ्यास अलबत्ते दिन-रात होता रहता है। जीभ, आंख व कानको हम चटोरापन सिखा रहे हैं। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमें लगाना चाहिए। अच्छी बातोंकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उनमें उसे रंग जाना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाय, उसी क्षणसे उसे सुधारनेमें व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जानेपर भी क्या उसे वैसी ही करते रहेंगे ? जिस क्षण हमें अपनी भूल मालूम हुई, उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवनका नवीन प्रभात, समझो। अब तुम सचमुचमें जगे हो। अब दिन-रात जीवनकी जांच-पड़ताल करते रहो व सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर बुरी बातका अभ्यास शुरू हो जायगा।

बहुत साल पहले मैं अपनी दादीसे मिलने गया था। बहुत बूढ़ी हो गई थी। मुझसे कहती—"विन्या, अब इधर मुझे याद नहीं रहता। घीकी दोहनी लेने जाती हूं, और वैसे ही लौट आती हूं।" परंतु पचास साल पहलेकी गहनोंकी एक बात मुझसे कहा करती। पांच मिनट पहलेकी बात याद नहीं रहती, मगर पचास साल पहलेके बलवान् संस्कार अखीरतक सतेज थे। इसका कारण क्या ? वह गहनेवाली बात उसने हरेकसे कही होगी। उस बातका सतत उच्चार होता रहा। अतः वह जीवनसे चिपककर बैठ गई। जीवनके साथ एक-रूप हो गई। मैंने मनमें कहा—"भगवान् करे, दादीको मरते समय उन गहनोंकी याद न आये तो भर पाये।"

[३८]

जिस बातका हम रात-दिन अभ्यास करते है, वह हमसे क्यो चिपकी न रहेगी ? उस अजामिलकी कथा पढकर भ्रममे न पड जाना। वह ऊपरसे पापी था; परंतु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा बह रही थी। वह पुण्य अतिम क्षणमें जग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अतमें राम-नाम अचूक याद आ जायगा—इस धोखेमें मत रह जाना। बचपनसे ही मन लगाकर अभ्यास करो। ऐसी चिंता रखो कि हमेशा अच्छे ही सस्कार सगृहीत हो। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा, व उससे क्या होगा ? चार बजे ही क्यो उठें ? सात बजे उठें तो उससे क्या बिगडा ? ऐसा कहनेसे काम नही चलेगा। यदि मनको बराबर ऐसी आजादी देते चले गए तो अखीरमें फंस जाओगे। फिर सच्चे सस्कार अंकित नही होने पावेगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी—संपत्ति जुटानी पडती है। एक-एक क्षणको व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जनमें लगाना पडता है। इस बातका ध्यान रक्खो कि प्रत्येक क्षण संस्कार अच्छा ही पड रहा है न ? खराब बात कही, तो पड गया उसी समय बुरा सस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छैनी बनकर हमारे जीवन-रूपी पत्थरको आकार देती है। दिन अच्छी तरह बीत गया, तो भी सपनेमें बुरे खयाल आ जाते है। दस-पाच दिनके ही विचार सपनेमे आते हो, सो बात नही। कितने ही बुरे संस्कार गफलतमें पड जाते है। नही कह सकते कि वे कब जग पडेंगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोमें भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा लग जाता है। हम संसार-सागरमे डूब रहे है। यदि हम थोडा भी अच्छा बोलें तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नही जाता। वह तुमको तार देगा। लेश-मात्र भी बुरे संस्कार न होने चाहिए। सर्वदा ऐसा ही उद्योग करो, जिससे आखें पवित्र रहें, कान निंदा न सुनें, अच्छा बोलें। यदि ऐसी सावधानी रखोगे तो आखिरी समय पर हुकमी पासा पडेगा। हम अपने जीवन-मरणके स्वामी हो रहेंगे।

पवित्र सस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमें दौडाते रखने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनमें लगे रहें। भीतरसे ईश्वरका स्मरण व बाहरसे स्वधर्माचरण। हाथोसे सेवा-रूपी कर्म, मनमें विकर्म। ऐसा

नित्य करते रहना चाहिए। गाधीजीको देखो, रोज चरखा चलाते है। वे रोज कातनेपर जोर देते है। रोज क्यो काते ? कपडेके लिए कभी-कभी कात लिया करें तो क्या काम नही चलेगा ? परतु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमें आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-न-कुछ करना है, इस बातका वह चितन है। वह सूत हमें नित्य दरिद्र-नारायणसे जोडता है। वह सस्कार दृढ होता है।

डाक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी लें तो ? तो वह बेतुकी बात हो जायगी। औषधिका उद्देश्य उससे सफल न होगा। दवाका सस्कार रोज-ब-रोज पडकर प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शंकरपर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पडता है। मेरा यह प्रिय दृष्टात है। बचपनमें मै नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घटे मिलाकर बहुत हुआ तो वह पानी दो बालटी होता होगा। फिर एक साथ दो बालटी शिवजी पर एकदम क्यो न उडेल दी जाय ? इसका उत्तर बचपनमें ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उडेल देनेसे वह कर्म सफल नही हो सकता। एक-एक बूंद-धारा पडना ही उपासना है। समान सस्कारोकी सतत धारा लगनी ही चाहिए। जो सस्कार सुबह, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमें, वही रातमें, वही कल, वही आज, व जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममें, वही अगले जन्ममें, जो जीवनमें वही अतकालमें—ऐसी एक-एक सत्सस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखड चालू रहेगा, तो ही हम अतमें जीत सकेंगे। तभी हम जाकर मुकामपर अपना झडा गाड सकेंगे। संस्कारोका प्रवाह एक ही दिशामें बहना चाहिए। नही तो वह पहाडपर गिरा पानी यदि बारह दिशामें बह निकला तो फिर उससे नदी नही बन सकती। उसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामें बहेगा, तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गगा बनकर ठेठ समुद्र तक जा पहुचेगी। जो पानी एक ही दिशामें बहा, वह जाकर समुद्रमें मिल गया; परंतु जो चारो दिशाओमें बहा, वह कहीं आगे जाकर खतम हो गया। यही बात सस्कारोकी है। सस्कार यदि आते गये व

जाते गये तो क्या फायदा ? यदि जीवनमें संस्कारोका पवित्र प्रवाह सतत बहता रहा तो ही अतमें मरण महाआनदका विधान मालूम पडेगा। जो यात्री रास्तेमें ज्यादा न ठहरते हुए रास्तेके मोह व प्रलोभनसे बचते हुए कठिन चढाई कदम जमा-जमाकर चढता हुआ शिखरतक पहुच गया, व ऊपर पहुचकर छातीपरके सारे बोझ व बधन हटाकर वहाकी खुली हवाका अनुभव करने लगा, उसके आनंदका अदाज क्या दूसरे लोग लगा सकेंगे ? पर जो मुसाफिर रास्तेमें ही अटक गया, उसके लिए सूर्य कहीं रुकता है ?

[३९]

सार यह है कि बाहरसे सतत स्वधर्माचरण व भीतरसे हरि-स्मरण रूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया, इस तरह जब ये अतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेंगे, तब मरण आनददायी मालूम होगा। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च

मेरा अखंड स्मरण करो, व लडते रहो। "उसीमें रंग रहा सदा।" सदा ईश्वरमें लीन रहो। ईश्वरी प्रेमसे जब अतर्बाह्य रग जाओगे, जब वह रग सारे जीवनमें फैल जायगा, तभी पवित्र बातोमें सदैव आनंद मालूम होने लगेगा। तब बुरी वृत्तिया सामने आकर खडी ही न रहेगी। सुदर, बढिया मनोरथोंके अकुर मनमें उगने लगेंगे। अच्छे कर्म अपने आप होने लगेंगे।

यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेंगे; परतु भगवान्की यह भी आज्ञा है—सतत लडते रहो। तुकाराम महाराज कहते हैं—

"दिन रात हमें युद्धकी ही धुन।
अंतर्बाह्य जग और मन॥"

भीतर व बाहर अनंत सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टिसे मनका सतत झगडा जारी रहता है। इस झगडेमें हर बार जय ही होगी, यह नही कह सकते। जो अतको पा लेगा, वह सच्चा विजयी। अंतमें जो फैसला

हो वही सही। कई बार यश मिलेगा तो कई बार अपयश। अपयश—असफलता मिली तो निराश होनेका कोई कारण नही है। पत्थरपर उन्नीस बार चोट लगनेसे वह नही फूटा। बीसवी बारकी चोटसे जरूर फूट गया समझो, तो फिर क्या वे उन्नीस चोटें फिजूल ही गईं ? उस बीसवी चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटें कर रही थी।

निराश होनेका अर्थ है नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत बढानेके लिए मां उसे इधर-उधर जाने देती है; परतु वह उसे गिरने नही देती। जहा गिरने लगा कि झट आकर धीरेसे सहारा लगा देती है। ईश्वर भी तुमपर सतत निगाह रखता है। तुम्हारे जीवन-रूपी पतगकी डोरी उसके हाथमें है। कभी वह डोर खीच लेता है, कभी ढीली छोड देता है; परतु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमें। गगाके घाटपर तैरना सिखाते है। घाट पर के वृक्ष में सकल या डोरी बधी हुई होती है। वह कमरसे बाधकर पानीमें आदमीको फेंक देते है। परतु सिखानेवाले उस्ताद भी पानीमें रहते ही है। वह नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डूबता-उतराता है, परंतु अतमे वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर-हमें जीवनकी कला सिखा रहा है।

[४०]

अतः परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर यदि 'काया-वाचा-मनसा' दिन-रात लडते रहोगे, तो अतकी घडी अतिशय उत्तम हो जायगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायगे, यही बात इस अध्यायके अतमें एक रूपकके द्वारा बताई गई है। इस रूपकको आप लोग समझ लीजिए। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चद्र बढ रहा है, उत्तरायणमें निरभ्र व सुदर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्म में विलीन होता है। और जिसकी मृत्युके समय धुआ फैल रहा हो, भीतर-बाहर अधेरा हो रहा हो, कृष्ण पक्षका चद्रमा क्षीण हो रहा हो, दक्षिणायनमें मलिन व अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा हो तो वह फिरसे जन्म-मरणके फेरमें पडेगा।

बहुतसे लोग इस रूपकको पढकर चक्करमें पड़ जाते है। यदि

यह चाहते हो कि पुण्य मरण हो तो अग्नि, सूर्य, चंद्र, आकाश इन देवताओं-की कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिह्न है, यज्ञका चिह्न है। अंत समयमे भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—"सतत कर्तव्यका पालन करते हुए यदि मौत आ जाय तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ रहे है, लिख रहे है, कोई काम कर रहे है—ऐसी हालतमें मै मरू तो भर पाया।" 'आग जल रही है' इसका अर्थ यह है। मरण समयमें भी कर्म करते रहे—यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपाका अर्थ यह है कि बुद्धिकी प्रभा अततक चमकती रहनी चाहिए। चन्द्रकी कृपाका मतलब यह है कि मौतके समय पवित्र भावना सतत बढती रहनी चाहिए। चद्र मनका—भावनाका—देवता है। शुक्ल पक्षके चद्रकी तरह मनके प्रेम, भक्ति, उत्साह, परोपकार, दया, इत्यादि शुद्ध भावनाओका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपासे अभिप्राय है कि हृदयाकाशमे आसक्ति-रूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक बार गाधीजीने कहा—"मै दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हू। चर्खेको बडी पवित्र वस्तु मानता हू। परतु अत समयमें उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणा की है, वह खुद चरखेकी चिंता करनेमें पूर्ण समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोंके हाथमें चला गया है। चरखेकी चिंता छोड़कर मुझे परमात्मासे मिलनेकी तैयारी करनी चाहिए।" मतलब यह कि उत्तरायणका अर्थ है हृदयमें आसक्ति रूपी बादल न रहना।

आखिरी सांसतक हाथसे कोई-न-कोई सेवाकार्य हो रहा है, भावना की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमें जरा भी आसक्ति नही है, बुद्धि सतेज है—इस तरह जिसकी मृत्यु होगी वह परमात्मामें जा मिला। ऐसा परम मगल-मय अंत लानेके लिए रात-दिन सावधान व दक्ष रहकर लडते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मनपर अशुभ सस्कार न पड़ने दीजिए। और ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुनः-पुन करते रहना चाहिए।

रविवार, १०-४-३२

नवां अध्याय

[४१]

आज मेरे गलेमें दर्द है। मुझे संदेह है कि मेरी आवाज आपतक पहुंच सकेगी या नहीं? इस समय साधुचरित बड़े माधवराव पेशवाके अंत समयकी बात याद आ रही है। वह महापुरुष मरण-शय्यापर पड़ा हुआ था। कफ बहुत बढ़ गया था। कफका अतिसारमें पर्यवसान किया जा सकता है। अत: माधवरावने वैद्यसे कहा—"कोई ऐसी तजवीज कीजिए, जिससे मेरा कफ हट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे मुंह खुल जायगा व मैं राम-नाम ले सकूंगा।" मैं भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवान्ने कहा—"जैसा गला हो, वैसा ही बोलता रह।" मैं जो यहां गीता सुना रहा हूं, वह किसीको उपदेश देनेके लिए नहीं। जो उससे लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें अवश्य उससे लाभ होगा; परंतु मैं तो गीता राम-नाम समझकर सुना रहा हूं। गीताका प्रवचन करते हुए मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

मैं जो यह कह रहा हूं उसका आजके नवें अध्यायसे संबंध है। इस अध्यायमें हरि-नामकी अपूर्व महिमा बताई गई है। यह अध्याय गीताके मध्य-भागमें खड़ा है। सारे महाभारतके मध्यमें गीता; व गीताके मध्य में यह नवां अध्याय है। अनेक कारणोंसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हो गई है। कहते हैं कि ज्ञानदेवने जब अंतिम समाधि ली, तो उन्होंने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोड़ा था। इस अध्यायके स्मरण-मात्रसे मेरी आंखें छल-छलाने लगती हैं व दिल भर आता है। व्यासदेवका यह कितना बड़ा उपकार है! केवल भारतवर्षपर ही नहीं, सारी मनुष्य-जाति पर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवान्ने अर्जुनको बताई, वह शब्दों द्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परन्तु दयाभावसे प्रेरित होकर

व्यासजीने इसे संस्कृत-भाषा द्वारा प्रकट किया। गुप्त वस्तुको वाणीका रूप दिया। इस अध्यायके शुरूमे भगवान् कहते हैं—

"राज-विद्या महागुह्य उत्तमोत्तम पावन।"

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है। भगवान् उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते है। शब्दोमें न समाने वाली परंतु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटीपर कसी हुई यह बात इस अध्यायमे बताई गई है। इससे यह बहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजीने कहा है—

को जाने को जैहे जम-पुर को सुर-पुर पर-धामको,
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम-गुलामको॥

मरनेके बाद मिलनेवाले स्वर्ग व उसकी कथाओसे यहा क्या काम चलेगा? कौन कह सकता है कि स्वर्गमें कौन जाता है व यमपुरको कौन जाता है? यदि ससारमे चार दिन रहना है तो रामका गुलाम बनकर रहनेमें ही मुझे आनद है, ऐसा तुलसीदासजी कहते है। राम का गुलाम होकर रहनेका मजा इस अध्यायमें है। प्रत्यक्ष इसी देहमें इन्ही आखोसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली बातें इस अध्यायमे बताई गई है। जब गुड खाते है तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरहका रामका गुलाम होकर रहनेका मजा यहा है। ऐसी इस मृत्यु-लोकके जीवनका मजा प्रत्यक्ष दिखानेवाली राज-विद्या इस अध्यायमें कही गई है। वह वैसे गूढ है, परंतु भगवान् उसे सबके लिए सुलभ व खोलकर रख रहे है।

[४२]

गीता जिस धर्मका सार है उसे वैदिक धर्म कहते है। वैदिक धर्म-का अर्थ है, वेदोसे निकला हुआ धर्म। इस जगतीतलपर जितने अति प्राचीन लेख है, उनमें वेद सबसे पहले लेख माने जाते है। इसी कारण भावुक लोग उन्हे अनादि मानते है। इसीसे वेद पूज्यताको प्राप्त हुए और यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय, तो भी वह हमारे समाजकी प्राचीन भावाओके प्राचीनतम चिह्न है। ताम्रपट, शिला-लेख, सिक्के, बरतन, प्राणियोके अवशेष—इत्यादिसे भी यह लिखित साधन बहुत ही

महत्वपूर्ण है। संसारमें पहला ऐतिहासिक प्रमाण अगर कोई है, तो वह वेद है। इन वेदोंमें जो धर्म बीज-रूपमें था, वह वृक्ष होते-होते अंतमें उसे गीता-रूपी दिव्य मधुर फल लगा। फलके सिवा पेडका हम खावें भी क्या? जब वृक्षमें फल लगते हैं, तभी हमारे खानेकी चीज उससे हमें मिल सकती है। वेद-धर्मके सारका भी सार यह गीता है।

यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ था, उसमें नाना यज्ञ-याग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएं बतलाई गईं। यह जो सारा कर्मकांड है यद्यपि वह निरुपयोगी नहीं है, तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। वह कर्मकांड सबके लिए सुलभ न था। ऊंचे नारियलके पेड़पर चढ़कर फल कौन तोड़े, कौन छीले व कौन फोड़े? मैं चाहे कितना ही भूखा होऊं, पर ऊंचे पेड़का वह नारियल मुझे मिले कैसे? मैं नीचेसे उसकी ओर देखता हूं, ऊपरसे नारियल मुझे देखता है। परंतु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी? जबतक वह नारियल मेरे हाथमें न पडे, तबतक सब फिजूल। वेदोंकी इन नाना क्रियाओंमें फिर बडे बारीक विचार रहते थे। जन-साधारणको इनका ज्ञान कैसे हो? वेद-मार्गके सिवा मोक्ष नहीं, परन्तु वेदोंका तो अधिकार नहीं। तब दूसरोंका काम कैसे चले? अतः कृपा-सागर संत लोग आगे बढे और कहा—"आओ, हम इन वेदोंका रस निकाल लें। वेदोंका सार थोडेमें निकालकर संसारको दें।" इसलिए तुकाराम महाराज कहते हैं—

'वेद कहा है अनंत—पर अर्थ इतना ही है चिव्य!'

वह अर्थ क्या है? तो हरिनाम। हरिनाम वेदोंका सार है। राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रियां, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पंगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदोंकी अलमारी में बंद मोक्षको भगवान्ने चौराहे पर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी, सादी, सरल तरकीब! जिसका जैसा सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवाकर्म है, उसीको यज्ञरूप क्यों न बना दें! फिर दूसरे यज्ञ यागकी जरूरत ही क्या है? तुम्हारा नित्यका जो सीधा-सादा सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञ समझकर करो। यही राज-मार्ग है।

८

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

इस मार्गसे यदि आखें मूदकर दौडते चले जाओ तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नही। दूसरा मार्ग है—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'; तलवारकी धार भी शायद थोडी भोथरी होगी। यह वैदिक-मार्ग इतना विकट है। इसकी अपेक्षा रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है। एक इजीनियर रास्तेकी ऊचाई धीरे-धीरे बढाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमको ऊचे शिखरपर ला बिठाता है। हमको सहसा पता भी नही लगता कि इतने ऊचे चढ रहे है। इजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राज-मार्गकी खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खडा है, वही, उस सादे कर्म द्वारा, वह परमात्माको प्राप्त कर सकता है। ऐसा यह मार्ग है।

परमेश्वर क्या कही छिपकर बैठा है? किसी खोहमें, किसी गलीमें, किसी नदीमें, या किसी स्वर्गमें वह लुककर बैठ गया है? लाल, नीलम, चादी-सोना पृथ्वीके पेटमें छिपा रहता है। मोती-मूगा रत्नाकर समुद्र में छिपे रहते है। वैसा वह परमेश्वर-रूपी 'लाल रतन' क्या कही छिपा हुआ है? भगवान्को कहीसे खोदकर थोडे ही बाहर निकालना है? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खडा ही है। ये जितने लोग है सब परमात्माकी ही तो मूर्तिया है। भगवान् कहते है—"इस मानव-रूपमे प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो भाई।" ईश्वर ही सब चराचर-रूपमे प्रकट हो रहा है। उसको खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोकी क्या जरूरत? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो, उन सबका सबंध भगवान्से जोड दो, बस काम बन गया। तुम रामके गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ,'वे स्वाहा, वे स्वधा, वे श्राद्ध, वह तर्पण, सब हमें मोक्षकी ओर ले जायगे। परंतु इसमें अधिकारी और अनधिकारीके भेदका टटा खडा होता है। हमें उसकी जरूरत ही नही। सिर्फ इतना ही करो कि जो कुछ करते हो, वह ईश्वरके अर्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका संबध ईश्वरसे जोड दो। इस नवें अध्यायकी यह शिक्षा है। इसलिए वह भक्तोंको बहुत प्रिय है।

[४३]

कृष्णके सारे जीवनमें उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्ण की ही विशेष उपासना की जाती है। वह ग्वाल-बालोंके साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हसता-बोलता। इद्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले तो उसने उससे कहा—"इद्रको किसने देखा है? उसने हमपर उपकार भी ऐसा क्या किया है? लेकिन यह गोवर्धन पर्वत हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहा गायें चरती हैं। इसमें पानीके सोते निकलते है। अत. तुम इसीकी पूजा करो।" ऐसी बातें वह उन्हे सिखाया करता। जिन गोपालकोमें खेला, जिन गोपियोसे हसा-बोला, जिन गाय-बछडोमें रम गया, उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खुला कर दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बतलाया है। बचपनमें उसका काम गाय-बछेडोसे पडा। बडे होनेपर घोडोसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गायें गद्गद् हो जाती और कृष्णके हाथ फेरते ही घोडे फुरफुराने लगते। वे गाय-बछेडे और वे रथके घोडे कृष्णमय हो जाते थे। पाप-योनि माने गये उन पशुओको भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्षपर केवल मनुष्यका ही अधिकार नहीं, बल्कि पशु-पक्षीका भी है—यह बात श्रीकृष्णने साफ कर दी है। अपने जीवनमें उन्होंने इस बातका अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान्को हुआ, वही व्यासजीको भी। कृष्ण और व्यास, दोनो एक रूप ही है। दोनोके जीवनका सार भी एक ही। मोक्ष न विद्वत्तापर अवलबित है, न कर्म-कलापपर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। मैं-मैं कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही खडे रहे व भोली-भावुक स्त्रिया उनसे आगे बढ गईं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो तो फिर मोक्ष कठिन नही है। महाभारतमें 'जनक-सुलभा-सवाद' नामक एक प्रकरण है। उसमें व्यासने एक ऐसे प्रसगकी रचना की है, जिसमें जनक राजा ज्ञान-प्राप्तिके लिए एक स्त्रीके पास गये है। आप लोग भले ही बहस करते रहे कि स्त्रियोको वेदोका अधिकार है या नही; परतु सुलभा तो यहा प्रत्यक्ष जनक राजाको ब्रह्म-विद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री। जनक कितना बड़ा सम्राट्!

कितनी विद्याओसे संपन्न ! पर उस महाज्ञानी जनकके हाथ मोक्ष नही था । इसलिए व्यासदेवने उसे सुलभाके चरणोमें गिरनेके लिए भेजा है । ऐसी ही वात उस तुलाधार वैश्यकी है । जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है । तुलाधार कहता है, "तराजूकी डंडी सीधी रखनेमें ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है !" वैसी ही कथा व्याध की है । व्याध तो कसाई । पशुओको मारकर वह समाजकी सेवा करता था । एक अहंकारी तपस्वी ब्राह्मणको उसके गुरुने उस व्याधके पास जानेके लिए कहा । ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या सिखायेगा ? ब्राह्मण व्याधके यहा गया । व्याध क्या कर रहा था ? मास काट रहा था, धो रहा था । और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था । उसने ब्राह्मणसे कहा, "देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्म-मय किया जा सकता है, उतना मै करता हूं । अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममें उडेली जा सकती है, उतनी उडेलकर मैं यह कर्म करता हूं और अपने मां-बापकी सेवा करता हू ।" ऐसे इस व्याधके रूपमें व्यासदेवने आदर्श मूर्ति खडी की है ।

महाभारतमें ये जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कथाए आई है, उनका उद्देश्य यह है कि सबको यह साफ-साफ दीख जाय कि मोक्षका द्वार सबके लिए खुला हुआ है । उन कथाओंका तत्व इस नवे अध्यायमें बतलाया गया है । उन कथाओपर इस अध्यायमें मुहर लगाई गई है । रामका गुलाम होकर रहनेमें जो मजा है, वही व्याधके जीवनमें है । सत तुकाराम अहिंसक थे, परतु उन्होंने बडे चावसे यह वर्णन किया है कि सजन कसाईने कसाईका काम करके मोक्ष प्राप्त कर लिया । तुकाराम ने एक जगह पूछा है, "भगवन्, पशुओका वध करनेवालोकी क्या गति होगी ?" परतु 'सजना कसाईके साथ बेचता है मास' यह चरण लिखकर उन्होंने कहा है कि भगवान् सजन कसाईकी मदद करते है । नरसी मेहता की हुंडी सिकारनेवाला, एकनाथके यहा कावर भरके लानेवाला, दामाजी के लिए महार[1] होनेवाला, महाराष्ट्रकी प्रिय जनाबाईको कूटने-पीसने

---

[1] महाराष्ट्र की क हरिजन-जा

मे मदद करनेवाला भगवान् सजन कमाईकी भी उतने ही प्रेमसे मदद करता था, ऐसा तुकाराम कहते हैं । साराश यह कि अपने सब कृत्योका सबंध परमेश्वरसे जोडना चाहिए । कर्म यदि शुद्ध भावनासे पूर्ण और सेवा-मय हो तो वह यज्ञ-रूप ही है ।

[४४]

नवें अध्यायमें यही विशेष बात कही गई है । इसमें कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर मिलाप है । कर्म-योगका अर्थ है, कर्म तो करना, परंतु फलका त्याग कर देना । कर्म ऐसी खूबीसे करो कि फलकी वासना चित्तको न छुए । यह अखरोटके पेड़ लगाने जैसा है । अखरोटके वृक्षमें पच्चीस वर्षमें जाकर फल लगते है । उसे लगानेवालेको अपने जीवनमें शायद ही उसके फल चखनेको मिलें । फिर भी पेड लगाना है और उसे बहुत प्रेमसे पानी पिलाना है । कर्मयोगका अर्थ पेड लगाना, परतु फलकी इच्छा न रखना । और भक्ति-योग किसे कहते है ? भाव-पूर्वक ईश्वरके साथ जुड जानेका अर्थ है भक्ति-योग । राज-योगमे कर्म-योग और भक्तियोग, दोनो एकत्रित हो जाते है । राज-योगकी कई लोगोंने व्याख्याएं की है, परतु राजयोग यानी सक्षेपमें कर्म-योग व भक्ति-योगका मधुर मिश्रण, ऐसी मैं व्याख्या करता हूं ।

हम कर्म तो करें परंतु फल फेंके नही, बल्कि उसे परमात्माके अर्पण कर दें । जब यह कहते हैं कि फल फेंक दो तो उसका अर्थ हो जाता है फलका निषेध, किंतु अर्पणमें ऐसा नही होता । कितनी सुदर व्यवस्था है यह! बहुत माधुरी है इसमें । फल छोडनेका यह अर्थ नही कि फल कोई लेगा ही नही । कोई-न-कोई उसे अवश्य ग्रहण करेगा । किसी-न-किसीको तो वह मिलेगा ही । फिर ऐसे तर्क खडे हो सकते हैं कि जो इस फलको पायेगा, वह इसका अधिकारी भी है या नही । कोई भिखारी घर आ जाता है तो हम झट कहते हैं—"तू मोटा-ताजा है । भीख मागना तुझे शोभा नहीं देता । चला जा ।" हम इस बातका विचार करते है कि उसका भीख मागना उचित था या नही ? भिखारी बेचारा शर्मिन्दा होकर चला जाता है । हमारे दिलमें उसके लिए सहानुभूतिका पूर्ण अभाव है । फिर भीख मागनेवालेकी योग्यता हम कैसे ठहरायेंगे ? मैंने बचपनमें

एक बार अपनी मासे भिखारियोंके बारेमें ऐसी ही शंका की थी। उसने जो उत्तर दिया वह अभीतक मेरे कानोमें गूज रहा है। मैने उससे पूछा—"यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा दीखता है। इसको भिक्षा देनेसे तो व्यसन और आलस्य ही बढेंगे।" गीताका "देशे काले च पात्रे च" यह श्लोक भी मैंने उसे सुनाया। उसने जवाब दिया—"जो भिखारी आया, वह परमेश्वर ही था। अब करो पात्रापात्रका विचार! भगवान्‌को क्या अपात्र कहोगे? पात्रापात्रके विचार करनेका तुम्हे व मुझे क्या अधिकार है? ज्यादा विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नही मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" माके इस जवाबका कोई माकूल जवाब मुझे अभीतक नही सूझा है।

दूसरोको भोजन कराते समय मैं उसकी पात्रापात्रताका विचार करता हू; परंतु अपने पेटमें रोटी डालते समय मुझे यह खयालतक नही होता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नही? जो हमारे दरवाजे आ जाता है, उसे अभद्र भिखारी ही क्यो समझा जाय? जिसे हम देते है वह भगवान् ही है—ऐसा हम क्यों न समझें? राजयोग कहता है—"तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न? तो उसे भगवान्‌को ही दे डालो। उसीके अर्पण कर दो।" राजयोग अपने अर्पणका उचित स्थान तुम्हे बता देता है। यहा फल-त्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नही है, और क्योकि सबकुछ भगवान् के ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रापात्रका भी सवाल हल हो जाता है। भगवान्‌को जो दान दिया गया है, वह सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्ममे यदि दोष भी रहा हो तो उसके हाथोमें पडते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करें तो भी दोष बाकी रहता ही है। फिर भी जितना शुद्ध होकर हम कर्म कर सके, उतना करना चाहिए। बुद्धि ईश्वरकी देन है। उसको जितना शुद्ध-रूपमें हो सके, काममें लेना हमारा कर्तव्य ही है। ऐसा न करना अपराध होगा। अत. पात्रापात्र-विवेक भी करना ही चाहिए; किंतु भगवद्-भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है।

फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय, वैसा ही उसे भगवान्‌के अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-

जैसे होती जाय, वैसे-ही-वैसे उसे भगवान्‌के अर्पण करके मन तुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फलको छोडना नही है, उसे भगवान्‌के अर्पण कर देना है। यह तो क्या, मनमे उत्पन्न होनेवाली वासनाए और काम क्रोधादि विकार भी परमेश्वरके अर्पण करके छुट्टी पाना है।

"काम-क्रोध मेरे, अर्पण प्रभुके।"

यहा न तो संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दवाना, न मारना।

"जो गुड़ दीन्हें ते मरें, माहुर काहे देय।"

इद्रिया भी साधन हैं। उन्हे ईश्वरार्पण कर दो। कहते है— कान हमारी नही सुनते। तो फिर क्या सुनना ही वद कर दें? नही, सुनो जरूर, पर हरि-कथा सुनो। न सुनना वडा कठिन है। परतु हरि-कथा-रूपी श्रवणका विषय देकर कानका उपयोग करना अधिक रुचिकर व हितकर है। अपने कान तुम रामको दे दो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इद्रिया शत्रु नही है। वे है भी अच्छी। उनके सामर्थ्यका ठिकाना नही। अत ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इद्रियसे काम लेना—यही राज-मार्ग है। इसीको राजयोग कहते है।

[४५]

यह वात नही कि हम कोई खास क्रिया ही भगवान्‌के अर्पण करें। कर्म-मात्र उसे सौंप दो। शवरीके वे वेर। रामने उन्हे कितने स्वादसे चखा! परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामें जाकर वैठनेकी जरूरत नही है। तुम जहा जो भी कर्म करो, वह परमेश्वरके अर्पण करो। मा वच्चेको सभालती है—मानो भगवान्‌को ही सभालती है। वच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वर पर रुद्राभिषेक ही करती है। वालक परमेश्वरी कृपाकी देन है, ऐसा मानकर माको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे वच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी व यशोदा कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थी? उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामें उन्हे अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवा-संगोपन-क्रिया वहुत उच्च

है। वह बालक, परमेश्वरकी वह मूर्ति, उस मूर्तिकी सेवासे बढकर सद्-भाग्य क्या हो सकता है ? यदि एक-दूसरेकी सेवा करते समय हम ऐसी ही भावनाको स्थान दे तो हमारे कर्मोमें कितना परिवर्तन हो जाय ? जिसको जो सेवा मिल गई, वह ईश्वरकी ही सेवा है। ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

किसान बैलकी सेवा करता है। उस बैलको क्या तुच्छ समझना चाहिए ? नही, वेदोमें वामदेवने शक्ति-रूपसे विश्व व्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है, वही उस किसानके बैलमें भी मौजूद है—

चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश।

जिसके चार सीग है, तीन पैर है, दो सिर है, सात हाथ है, जो तीन जगह बंधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओमें व्याप्त है, उसी गर्जना करनेवाले विश्व-व्यापी बैलकी पूजा किसान करता है। टीकाकारोने इस एक ऋचाके पाच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये है। यह बैल है भी विचित्र ! आकाशमें गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है, वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमे फसल पैदा करनेवाले इस किसानके बैलमे मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोकी सेवा-चाकरी करेगा तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरके अर्पण हो जायगी।

इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी जो चौका लगाकर रसोई-घरको साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोंको पुष्टि-तुष्टिदायक हो तो उसका यह सारा कर्म यज्ञ-रूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस मातानें एक छोटा-सा यज्ञ ही जगाया है। परमेश्वरको तृप्त करनेकी भावना मनमें रखकर जो भोजन तैयार किया जायगा, वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जरा इसकी कल्पना कीजिए। यदि उस गृहलक्ष्मीके मनमे ऐसी उच्च भावना हो तो इसे फिर भागवत्की

ऋषि-पत्नियोंके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताए सेवा करके तर गई होगी. और 'मैं-मैं' करनेवाले पडित और ज्ञानी कोनेमें ही पड़े रहे होंगे !

[४६]

हमारा दैनिक क्षण-क्षणका जीवन, मामूली दिखाई देता हो तो भी वह वास्तवमें वैसा नही होता। वह महान् अर्थ रखता है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेंगे तो वह समाधि नहीं तो क्या होगी ? हम लोगोमें स्नान करते समय पुरुष-सूक्तके पाठ करनेकी रूढि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नान की क्रिया से इस पुरुष-सूक्तका क्या सबब ? देखना चाहोगे तो जरूर दिखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आखें है उसका मेरे इस स्नानसे क्या संबध ? संबध यह कि तुम जो लोटा भर जल सिरपर डालते हो, उसमें हजारो बूदे है। वे बूदे तुम्हारा मस्तक धो रही है—तुम्हे निष्पाप बना रही है। मानो तुम्हारे मस्तकपर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोंसे सहस्र धारा ही मानो तुमपर बरस रही है। इन बूदोंके रूपमें मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अंदरका मैल धो रहे है। एसी दिव्य भावना उस स्नानमें उडेलो तो वह स्नान कुछ और ही हो जायगा, उस स्नानमें अनत शक्ति आ जायगी।

कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वर-का है तो मामूली होने पर भी पवित्र हो जाता है। यह बात अनुभव सिद्ध है। मनमें जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वर-रूप है। कोई मामूली बडा आदमी भी जब हमारे घर आता है तो हम कितनी सफाई रखते है और कैसा बढिया भोजन बनाते है। फिर यदि यह भावना करें कि वह परमेश्वर है, तो भला बताओ, हमारी उस भावनामें कितना फर्क पड जायगा। कबीर कपडे बुनता था। उसी में निमग्न होकर वह गाता—

"झीनी झीनी बिनी चदरिया।"

यह गाता हुआ झूमता जाता, मानो परमेश्वरको ओढानेके लिए वह

चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—

"वस्त्रेव भद्रा सुकृता सुपाणी"

मै अपना यह स्तोत्र सुदर हाथोसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको ग्रहण कराता हूं। कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वरके लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयगम कल्पना! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देनेवाला विचार!! यह भावना यदि जीवनमें एक बार आ जाय, तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा! अधेरेमें जब बिजली चमकती है तो वह अंधेरा एक क्षण-मे प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नही, एक क्षणमें ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड देते ही जीवनमे एकदम अद्भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगेगी। जीवनमें उत्साह का संचार होगा। आज हमारे जीवनमे उत्साह है कहा? हम जी रहे है, क्योकि मरते नही। उत्साहका चारो ओर अकाल पडा हुआ है। कला-हीन रोता जीवन। परतु जरा यह भाव मनमें लाओ कि हमे अपनी सब क्रियाए—ईश्वरके साथ जोडनी है। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जायगा।

परमेश्वरके एक नाम-मात्रसे झट परिवर्त्तन हो जाता है। इसमें सदेह करनेकी जरूरत नही। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है। जरा कहकर तो देखो। कल्पना करो कि सध्या समय किसान काम करके घर आ रहा है। रास्तेमें उसे कोई मुसाफिर मिल जाता है। वह उससे कहता है—

"भाई यात्री, ओ नारायण, जरा ठहरो। अब रात हो आई। भगवन्, मेरे घर चलो।" उस किसानके मुहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, और फिर देखो, उस यात्रीका रूप बदलता है या नही। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा तो भी पवित्र हो जायगा। यह फर्क भावना के कारण होता है। भावनामे ही सब-कुछ भरा हुआ है। जीवन भावना-मय है। एक बीस सालका पराया लडका हमारे घर आता है, पिता उसको

अपनी कन्या देता है। वह लडका तो बीस सालका है, परंतु पचास सालका वह लडकीका पिता उसके पैर छूता है। यह क्या बात हुई? कन्या-अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है? वह जिसे दी जाती है वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामादके प्रति रखी जाती है, उसीको और ऊपर ले जाओ, और आगे बढाओ।

कोई कहेंगे कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या? मैं कहता हूं कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हें सच-झूठ मालूम हो जायगा। उस कन्या-दानमें कोरी शाब्दिक नहीं किंतु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है, तो फिर देख लोगे कि कितना फर्क पड जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्व-रूप और उत्तर-रूपमें जमीन आसमानका अंतर पड जायगा। कुपात्र सुपात्र हो जायगा। जो दुष्ट है, वह सुष्ट हो जायगा। वाल्या भीलका कायापलट इसी तरह हुआ न? वीणा पर उंगलियां नाच रही हैं, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है, और मारनेके लिए दौडता है तब भी शांतिमें बाधा नहीं होती, बल्कि उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है—वाल्याने ऐसा दृश्य ही इससे पहले कभी नहीं देखा था। उसने उस क्षणतक दो ही प्रकारके प्राणी देखे थे, एक तो उसकी तीर-कमठी देखकर भाग जानेवाले, या उलटकर उसपर हमला करनेवाले। परंतु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, बल्कि शांत भावसे खडे रहे। वाल्याकी तीर-कमान रुक गई। नारदकी न भौं हिली, न आंखे मुंदी—मधुर भजन ज्यों-का-त्यों जारी था। नारदने वाल्यासे पूछा—"तुम्हारा तीर क्यों रुक गया?" वाल्याने कहा—"आपके शांत भावको देखकर।" नारदने वाल्याका रूपांतर कर दिया। वह रूपांतर झूठ था या सच?

सचमुच, संसारमें कोई दुष्ट है भी या नहीं, इसका निर्णय आखिर कौन करे? कोई असली दुष्ट सामने आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट होगा भी तो संत हो जायगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करें? मैं कहता हूं, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है? बाज लोग कहते हैं कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते हैं, इसलिए उन्हे

सबकुछ अच्छा दिखाई पडता है; परंतु वास्तवमें ऐसा नही होता। तो फिर तुमको जैसा दिखाई देता है, वह भी सच कैसे मानें? सृष्टिके सम्यक् ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोंके ही पास है। यह क्यो न कहा जाय कि सृष्टि तो अच्छी है, पर तुम दुष्ट हो, इसलिए वह तुम्हे दुष्ट दिखाई देती है। देखो, सृष्टि क्या है, एक आइना है। तुम जैसे होओगे, वैसे ही सामनेकी सृष्टिमें तुम्हारा प्रतिबिंब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि, वैसा ही सृष्टिका रूप। इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपनी मामूली क्रियामें भी ऐसी भावनाका सचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है। भगवान यही बात समझा देना चाहते हैं—

जो-जो खाओ करो होमो तथा जो तव आचरो।
देओ जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण॥

तुम, जो कुछ करो, सब ज्यो-का-त्यो भगवान के अर्पण कर दो।

मेरी मा बचपनमें एक कहानी सुनाया करती थी। बात मजेदार है, परंतु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान है। एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करे, सब कृष्णार्पण कर दे। वह करती क्या कि चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मिट्टीका गोला बनाकर बाहर फेंकती और कह देती—'कृष्णार्पणमस्तु'। होता क्या, कि वह गोबरका गोला, वहासे उठता और मंदिरमें भगवान्‌की मूर्तिके मुहपर जाकर चिपक जाता। पुजारी बिचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर कुछ उपाय नही चलता था। अंतको मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी। जबतक वह स्त्री जीवित है, तबतक मूर्ति कभी साफ रह ही नहीं सकती। एक दिन वह स्त्री बीमार हो गई। मरणकी अतिम घडी नजदीक आ गई। उसने मरणको भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मदिरकी मूर्तिके टुकडे-टुकडे हो गये। मूर्ति टूटकर गिर पडी। ऊपरसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए। उसने विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मंदिरसे टकराया और वह भी टुकडे-टुकड़े हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्ण के ध्यानके सामने बेकार है।

मतलब यह कि जो कुछ भला-बुरा कर्म हमसे हो, सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वारका दाना यों कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढ़िया फूली बन जाती है? साफ सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित व शानदार वह फूली, उस दानेके पास रखकर तो देखो कितना फर्क है? मगर वह फूली है, उस दानेकी है, इसमें सदेह नही। यह फरक महज एक आगके कारण हो गया। इसी तरह उस सख्त दानेको चक्कीमें डाल कर पीसो तो उसका मुलायम आटा बन जायगा। आगके सपर्कसे फूली बन गई, चक्कीमें डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रिया पर भी हरिस्मरण-रूपी सस्कार करनेसे वह अपूर्व हो जायगी। भावनासे मोल बढ जाता है। वह गुडेलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तिया, तुलसीकी मजरी और दूबके तिनके, इन्हें तुच्छ मत मानो—

'तुका कहे स्वाद पाया—राम-मिश्रित जो हो गया'

प्रत्येक बातमें भगवान्‌को मिला दो और फिर अनुभव करो। इस राम-रूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या? इस दिव्य मसालेसे बढकर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे? यही ईश्वर-रूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामें मिला दो, फिर सब-कुछ सुदर और रुचिकर हो जायगा।

रातको आठ बजे जब मदिरमें आरती हो रही हो, धूपकी सुगंध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हो, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माको देख रहे है। भगवान् दिन भर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते है—

'सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।'

पर शकाशील पूछता है—"चलो, भगवान् भी कही सोता है?"

अरे, भगवान् क्या नहीं करता? भले आदमी, अगर भगवान् सोता नही, जागता नहीं, तो क्या यह पत्थर सोयेगा, जागेगा? भाई, भगवान् ही सोता है, भगवान् ही जागता है, और भगवान् ही खाता-पीता है।

तुलसीदासजी प्रात.कालके समय भगवान्को जगाते है, विनय करते हैं—
'जागिये रघुनाथ कुंवर पंछी बन बोले।'

अपने भाई-बहिनोको, स्त्री-पुरुषोंको रामचद्रकी मूर्ति मान कर वे कहते है—"मेरे रामचद्रो अब उठो।" कितना सुदर विचार है! नही तो किसी वोर्डिंग को लो। वहां लडकोको उठाते समय डाटकर कहते है—"अरे, उठते हो कि नही?" प्रात कालकी मगल-वेला! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है? विश्वामित्रके आश्रममें रामचद्र सो रहे है। विश्वामित्र उन्हें उठा रहे है। वाल्मीकि-रामायणमें उसका इस प्रकार वर्णन है :—

"रामेति मधुरां वाणी विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥"

"बेटा राम, उठो अब!" इस प्रकार मधुर स्वरसे विश्वामित्र उन्हें उठा रहे है। कितना मधुर है यह कर्म। और वोर्डिंगका वह जगाना कितना कर्कश है! बेचारे सोये हुए लडकेको ऐसा मालूम होता है, मानो कोई सात जन्मका वैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो। परतु कर्कशता, कठोरता बिलकुल न होनी चाहिए। यदि न जगे तो फिर दस मिनटके बाद जाओ। आशा रखो कि, आज नही तो कल उठेगा। उसके उठानेके लिए मीठे-मीठे गाने, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगानेकी मामूली क्रिया है, परंतु हम उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुदर बना सकते है? मानो भगवान्को ही उठाना है। परमेश्वरकी मूर्तिको ही धीरेसे जगाना है। नीदसे कैसे जगाना, यह भी एक शास्त्र है।

अपने सब व्यवहारोमें इस कल्पनाका प्रवेश करो। शिक्षण-शास्त्रमें तो इस कल्पनाकी बहुत ही जरूरत है। लडके क्या है, प्रभुकी मूर्तिया है। गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मै इन देवताओकी ही सेवा कर रहा हू। तब वह लडकोको ऐसे नही झिडकेगा—"चले जाओ अपने घर! खडे रहो घटे भर। हाथ लबा करो। कैसे मैले कपड़े है? नाक-हाथ कितने गदे है!" बल्कि हलके हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले कपड़े धो देगा और फटे कपड़ोको सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करें तो

इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीटकर कहीं नतीजा निकाला जा सकता है? लड़कोंको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखें। गुरु यह समझें कि शिष्य हरि-मूर्ति हैं और लड़के भी गुरुको हरि-मूर्ति ही मानें। ऐसी भावना परस्पर रखकर यदि दोनों व्यवहार करें तो विद्या कितनी तेजस्वी हो जायगी। लड़के भी भगवान् और गुरु भी भगवान्! यदि लड़कोंको यह खयाल हो गया कि यह गुरु नहीं, भगवान् शंकरकी मूर्ति हैं; हम उनसे बोधामृत पान कर रहे हैं; उनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, तो फिर बतलाओ, लड़के उनके साथ कैसा व्यवहार करेंगे?

[४७]

सब जगह प्रभु विराजमान हैं, ऐसी भावना चित्तमें पैठ जाय तो फिर एक-दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करें, यह नीति-शास्त्र हमारे अन्तःकरणमें अपने-आप स्फुरने लगेगा। शास्त्र पढ़नेकी जरूरत ही न रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायगे, पाप पलायन कर जायगे, दुरितोंका तिमिर हट जायगा।

तुकारामने कहा है—

हो लो स्वतंत्र उद्दाम, ले लो हरदम विट्ठल हरिनाम।
नहीं होगा कोई पाप, नाम लेते आता पास॥

अच्छा चलो, तुमको पाप करनेकी छुट्टी। मैं देखता हूं कि तुम पाप करनेसे थकते हो या हरिनाम पाप जलानेसे थकता है। ऐसा कौन-सा जबरदस्त और मगरूर पाप है जो हरिनामके सामने टिक सकता है? "करो जितने चाहे पाप।" करो, तुमसे जितने पाप हो सकें, करो। तुमको आम इजाजत है। होने दो हरिनामकी और तुम्हारे पापोंकी कुश्ती! अरे, इस हरिनाममें इस जन्मके ही नहीं, अनंत जन्मोंके पाप पलभरमें भस्म कर डालनेका सामर्थ्य है। गुफामें अनंत युगका अंधकार भरा हो तो भी एक दियासलाई जलाई कि वह भागा। उस अन्धकारका प्रकाश हो जाता है। पाप जितने पुराने, उतने जल्दी ही वे नष्ट होते हैं; क्योंकि वे मरनेको ही होते हैं। पुरानी लकड़ियां उसी क्षण खाक हो जाती हैं।

राम-नामके नजदीक पाप ठहर ही नहीं सकता। बच्चे कहते हैं

न, कि राम कहते ही भूत भागता है? हम बचपनमें रातको स्मशान हो आते थे। स्मशानमें जाकर मेख ठोककर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको साप भी रहते; काटे भी होते, बाहर चारो ओर अंधकार। तो भी कुछ नही मालूम होता। भूत कभी दिखाई ही नही दिया। कल्पना के ही तो भूत, फिर दिखने क्यो लगे? एक दस वर्षके बच्चेमें रातको स्मशान-मे जाकर आनेका सामर्थ्य कहासे आ गया? राम-नामसे। वह सामर्थ्य सत्य-रूप परमात्माका था। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनियाके उलट पडनेपर भी हरिका दास भयभीत न होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है? राक्षस उसके तन-बदनको खा भी डाले और पचा भी डालें, परतु उसे सत्य नही पच सकेगा। सत्यको पचा डालनेकी शक्ति ससारमें कही नही। ईश्वर नामके सामने पाप जरा भी नही ठहर सकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त कर लो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोंका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य हो जायगा, मलिन जीवन सुदर हो जायगा।

[४८]

'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो काफी है। कितना दिया; कितना चढाया, यह भी मुद्दा नही; किस भावना-मे दिया, यही मुद्दा है। एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी चर्चा चल रही थी। वह शिक्षण-शास्त्र-सबधी थी। हम दोनोके विचार मिलते नही थे। अंतको प्रोफेसरने कहा—"भाई, मैं अठारह सालसे काम कर रहा हू।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते; परतु ऐसा न करते हुए जब उन्होने मुझसे कहा कि मैं इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हू, तो मैंने उनसे मज़ाकमे कहा—"अठारह साल तक बैल यदि यंत्रके साथ घूमता रहे तो क्या वह यत्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा?" यंत्र-शास्त्रज्ञ और चीज है और आख मूंदकर चक्कर काटनेवाला बैल और चीज है। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और चीज है और शिक्षणका बोझा ढोनेवाला और चीज। जो शास्त्रज्ञ होगा, वह छः महीनेमें ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो अठारह साल

तक बोझा ढोनेवाले मजदूरकी अक्लमें भी नही आ सकेगा। मतलव यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी डाढी दिखाई कि मैंने इतने साल काम किया है। किन्तु डाढीसे सत्य सिद्ध नही हो सकता। इसी तरह परमेश्वरके सामने कितना ढेर लगा दिया, इसका महत्त्व नही है। मुद्दा नामका, आकारका, कीमतका नही है, मुद्दा भावनाका है। कितना क्या अर्पण किया, इससे मतलव नही, वल्कि कैसे किया यह मुद्दा है। गीतामें कुल सात सौ ही श्लोक है। पर ऐसे भी ग्रंथ है, जिनमें दस-दस हजार श्लोक है। लेकिन वस्तुका आकार वडा होनेसे उसका उपयोग भी वडा या ज्यादा होगा ही, ऐसा नही कह सकते। देखनेकी वात यह है कि वस्तुमें तेज कितना है, सामर्थ्य कितना है? जीवनमें क्रिया कितनी थी, इसका महत्त्व नही। ईश्वरार्पण बुद्धिसे यदि एक भी क्रिया की हो तो वही हमें काफी पूरा लाभ या अनुभव करा देगी। कभी-कभी किसी एक ही पवित्र क्षणमें हमें इतना अनुभव होता है, जितना वारह-वारह सालोमें भी नही हो सकता।

आशय यह कि जीवनके सादे कर्मोको और सादी क्रियाओको परमेश्वरके अर्पण कर दो, तो इससे जीवनमें सामर्थ्य आ जायगा। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोडकर उसे ईश्वरके अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योगसे भी एक कदम आगे जाता है। कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो, फल छोडो। फलकी आशा मत रखो।" यहा कर्म-योग खतम हो गया। राज-योग कहता है, "कर्मके फलोको छोडो मत, वल्कि सव कर्म ईश्वरके अर्पण कर दो। वे फूल है, तुम्हे आगे ले जानेवाले साधन है, उन्हें उस मूर्तिपर चढा दो।" एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्तिका मेल मिलाकर जीवनको सुंदर वनाते जाओ। त्यागो मत फलोको। फलोको फेंकना नही, वल्कि भगवान्से जोड देना है। कर्म-योगमें छोडा फल राज-योगमें जोड दिया जाता है। वोने और फेंक देनेमें फर्क है। वोया हुआ थोडा भी अनंत गुना होकर मिलता है। फेंका हुआ योही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरके अर्पण किया गया है, वह वोया गया है। उससे जीवनमें अनंत आनंद भर जायगा, अपार पवित्रता छा जायगी।

रविवार, १७-४-३२

१

दसवां अध्याय

[४९]

मित्रो, गीताका पूर्वार्द्ध खतम हो गया। उत्तरार्द्धमें प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम खतम कर चुके, उसका थोडेमें सार देख लें तो अच्छा रहेगा। पहले अध्यायमें यह बताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए व स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेके लिए है। दूसरे अध्यायमें जीवनके सिद्धात, कर्म-योग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमें हुआ। तीसरे, चौथे और पाचवें अध्यायमें कर्म, विकर्म और अकर्मकी समस्या हल की गई। कर्मका अर्थ है—स्वधर्माचरण करना। विकर्मका अर्थ है, वह मानसिक कर्म, जो स्वधर्माचरण का कर्म बाहर से करते हुए उसकी मददके लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म दोनो एक-रूप होकर जब चित्तकी शुद्धि हो जाती है, सब प्रकारके मल धुल जाते हैं, वासना क्षीण हो जाती है, विकार शान्त हो जाते हैं, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म दशा फिर दो प्रकार की बताई गई हैं। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेश-मात्र कर्म न कर रहे हो ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना। इस प्रकार अकर्म दशा दो प्रकारोंसे परिणत हो जाती है। ये दो प्रकार यो दिखाई अलग-अलग देते है, तथापि है पूर्ण-रूपसे एक ही। उनके नाम यद्यपि कर्म-योग और सन्यास इस तरह अलग-अलग बताये गए है, फिर भी भीतरकी सार-वस्तु दोनोमें एक ही है। अकर्म-दशा अतिम साध्य, आखिरी मजिल है। इस स्थितिको मोक्ष संज्ञा दी गई है। अतः गीताके पहले पाच अध्यायोमें जीवनका सारा शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

उसके बाद छठे अध्यायसे अकर्म-रूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग हैं, मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन

हैं, उनमेंसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी शुरूआत की गई है। छठे अध्यायमें चित्तकी एकाग्रताके लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास व वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्यायमें विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया। तुम ईश्वरकी ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ, जिज्ञासु बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतासे जाओ, या व्यक्तिगत कामना से जाओ—किसी तरीकेसे जाओ, परन्तु एक बार उसके दरबारमें पहुच जरूर जाओ। इस अध्यायके इस विषयका नाम मैंने 'प्रपत्ति-योग', अर्थात् ईश्वरकी शरणमें जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग दिया है। सातवेंमें प्रपत्ति-योग बताकर आठवेंमें 'सातत्य-योग' बताया है। मै जो ये नाम बता रहा हूं, वे तुम्हे पुस्तकमें नही मिलेंगे। अपने लिए जो उप-योगी नाम मालूम हुए, वही मैंने रख दिये। सातत्य-योगका अर्थ है—अपनी साधनाको अत-कालतक सतत चालू रखना। जिस रास्तेपर एक बार चल पड़े उसीपर सतत कदम बढाते जाना चाहिए। कुछ दिन किया, कुछ दिन छोड दिया, इस तरह करनेसे मजिलपर पहुचनेकी कभी आशा नही हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह खयाल न करना चाहिए कि अब कहातक साधना करते रहें। जबतक फल न प्रकट हो तबतक साधना जारी रखना चाहिए।

इस सातत्य-योगका परिचय देकर नवें अध्यायमें बहुत मामूली परंतु जीवनका सारा रग ही बदल देने वाली एक बात भगवान्‌ने बताई है, और वह है राज-योग। नवा अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घडी होते है, वे सब कृष्णार्पण कर दो। इस एक ही बातसे सारे शास्त्र-साधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योगमें विलीन हो गई। समर्पण-योगको ही राज-योग कहते है। यहा सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पण-रूपी साधन यो बहुत सादा और मामूली दिखता है, परंतु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि बिलकुल अपने घरमें बैठकर एक गवारसे लेकर विद्वान् तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते है। हालाकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बडे भारी पुण्यकी जरूरत है।

'अनेक सुकृतोका योग—इसीसे विट्ठलमें प्रेम।'

अनत जन्मोका पुण्य सञ्चित हो जाता है, तभी ईश्वरमें रुचि उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो तो आखोसे आसू बहने लगते है; परतु भगवान्‌का नाम लेते ही आखोमें दो बूद आंसू कभी नही आते। इसका उपाय क्या? सतोके कथनानुसार एक तरहसे यह साधना बहुत ही सरल है। परंतु दूसरे पहलूसे वह कठिन भी है। और वर्तमान समयमें तो और भी कठिन हो गई है।

आज तो जड-वादका पटल हमारी आखोंपर पडा हुआ है। आज तो शुरुआत यहांसे होती है कि ईश्वर कही है भी? वह कही भी किसीको प्रतीत ही नही होता। सारा जीवन विकार-मय, विषय-लोलुप और विषमतासे परिपूर्ण हो रहा है। इस समय तो जो ऊचे-से-ऊचे तत्व-ज्ञानी है, उनके भी विचार इस वातसे आगे जा ही नही सकते कि सवको पेट भर रोटी कैसे मिलेगी। इसमें उनका दोष नही है; क्योकि आज हालत ऐसी है कि कइयोको खानेको भी नही मिलता। आजकी बडी समस्या है रोटीकी। इसी समस्याको हल करनेमें आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्यने रुद्रकी व्याख्याकी है—

"बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अवतिष्ठते"

भूखे लोग ही रुद्रके अवतार है। उनकी क्षुधा-शातिके लिए अनेक तत्त्व-ज्ञान और विभिन्न राज-कारण बन गये है। भिन्न-भिन्न 'वाद' इसी रोटीके लिए खडे हुए है। इन समस्याओमेंसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नही मिलती। आज हमारे सारे भगीरथ प्रयत्न इसी दिशामें हो रहे है कि परस्पर न लडते हुए सुख-शातिसे व प्रसन्न मनसे रोटी कैसे खा लें। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युगमें हो रही है, वहा ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल वात भी वहुत कठिन हो बैठे तो क्या आश्चर्य! परतु इसका उपाय क्या है? दसवें अध्यायमें आज हम यही देखनेवाले है कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

[५०]

छोटे बच्चोको पढानेके लिए जो तदवीर हम करते है, वैसी ही तरकीब, परमात्माका दर्शन सर्वत्र हो, इसलिए, इस अध्यायमें की गई है। बच्चोको

वर्णमाला दो तरहसे सिखाई जाती है। एक तरकीव पहले बडे-बड़े अक्षर लिखकर वतानेकी। फिर इन्ही अक्षरोको छोटा लिख-लिखकर वताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परतु पहले ये वडे थे, अव छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि यह कि पहले सीधे-सादे सरल अक्षर सिखाये जायं और वादमें जटिल सयुक्ताक्षर। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोमें प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आखोमें समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमें आ गया तो एक जल-विंदुमें, मिट्टीके एक कणमें वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमें आजायगा। वडे 'क' व छोटे 'क' में कोई फर्क नही। जो स्थूलमें, वही सूक्ष्ममें। यह एक पद्धति हुई। अब दूसरी पद्धति है, सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देख लें, फिर उसके जटिल रूपको। जिस व्यक्तिमें शुद्ध परमेश्वरी आविर्भाव सहज रूपसे प्रकट हुआ है, वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है, जैसे राममें प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरंत मनपर अकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह विना झझटका परमेश्वर है। परतु रावण? वह सयुक्ताक्षर है। इसमें कुछ-न-कुछ मिश्रण है। रावणकी तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है। परतु उसमें क्रूरता मिली हुई है। पहले राम-रूपी सरल अक्षरको सीख लो। जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरत पकडमें आ जायगा। रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझने में जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर सयुक्ताक्षर। सज्जनोमें पहले परमात्माको देखकर अतको दुर्जनोमें भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी उस बूदमें है। राम-चन्द्रके अदरका परमेश्वर ही रावणमें है। जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी। जो सरलमें है, वही कठिनमें भी। इन दो विधियोसे हमें यह ससार रूपी ग्रंथ पढना सीखना है।

यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आखोपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें वंद हुई-सी जान पडती है। इस सृष्टि-रूपी पुस्तकमें सुदर वर्णोमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है। परतु वह हमें दिखाई नहीं

है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओंने उसे उस बच्चेके लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाए उसे वत्सल बना देती है। वह प्यार किये बिना रह ही नही सकती। वह मजबूर है। वह मा मानो निस्सीम सेवाकी मूर्त्ति है। परमेश्वरकी यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वरको माके ही नामसे पुकारो। मासे बढकर और ऊंचा शब्द है कहा? मा यह पहला स्थूल अक्षर है। उसमें ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमें भी देखो। गुरु शिक्षा देते है। वह हमें पशुसे मनुष्य बनाते हैं। कितने है उनके उपकार! पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु संत। अत्यन्त स्थूल रूपमें खडे इस परमेश्वर-रूपको पहले देखो। अगर परमेश्वर यहा नही दिखाई दिया तो फिर दीखेगा कहा?

माता, पिता, गुरु, सत—इनमें परमात्माको देखो। उसी तरह यदि छोटे बालकोमें भी हम परमात्माको देख सकें तो कितना मजा आये? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनंदन, सनत्कुमार—ये सब छोटे बालक ही तो थे। परतु पुराणकारोको, व्यासादिकको उनसे इतना प्रेम हो गया कि अब उन्हें कहा रखें कहां न रखें? शुकदेव, शकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेवका भी यही हाल था। सब-के-सब बालक। परतु उनमें परमेश्वर जितने शुद्ध रूपमें प्रकट हुआ है, उतना कही अन्यत्र नही। ईसा-मसीह बच्चोको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्योने उनसे पूछा—"आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते है, तो इस ईश्वरके राज्यमें आखिर जा कौन सकेगा?" पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसाने उसे मेजपर खडा करके कहा—"जो इस बच्चेकी तरह होगे, वे ही वहा पहुंच सकेंगे।" ईसाका कहना बिलकुल सच था। रामदास स्वामी एक बार बच्चेके साथ खेल रहे थे। बच्चेके साथ समर्थ खेल रहे है, यह देखकर कुछ बडे-बूढोको आश्चर्य हुआ। एकने उनसे पूछा—"आज आप यह क्या कर रहे है?" समर्थने जवाब दिया—

हुए श्रेष्ठ वे, जो रहे हो कनिष्ठ।
रहे ज्येष्ठ जो, हो रहे चोर श्रेष्ठ॥

ज्यो-ज्यों उम्र बढती है, त्यो-त्यो मनुष्यके मनमें सीग फूटते है—

वासनाएं बढती जाती है। फिर परमेश्वरका स्मरण कहा? छोटे बच्चोंके मनपर कोई लेप नही रहता। उनकी बुद्धि निर्मल रहती है। बच्चेको हम सिखाते है—"झूठ मत बोलो।" वह पूछता है—"झूठ किसे कहते है?" तब उसे सिद्धात बताते है—"बात जैसी हो वैसी ही कहना चाहिए"। लडका उलझनमें पडता है कि क्या जैसा हो वैसा कहनेके अलावा भी कहनेका कोई दूसरा तरीका है? जैसा नही हो, वैसा कहें कैसे? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो—ऐसा ही कहने जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे क्या है, विशुद्ध परमात्माकी मूर्त्ति है। बडे लोग उन्हें गलत शिक्षा देते है। जो हो, मा, बाप, गुरु, सत, बच्चे—इनमें यदि हम परमात्माको न देख सकें तो फिर किस रूपमे देखेंगे? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वर का दूसरा नहीं है। परमेश्वरके इन सादे सौम्य रूपोको पहले जानो। इनमें परमेश्वर स्पष्ट व मोटे अक्षरोमें लिखा हुआ है।

[५२]

पहले हम मानवकी सौम्यतम व पावन मूर्त्तियोमें परमात्माका दर्शन करना सीखें। उसी तरह इस सृष्टिमें भी जो-जो विशाल व मनोहर रूप है, उनमें उसके दर्शन पहले करें। उषाको ही लो। सूर्योदयके पहलेकी वह दिव्य प्रभा। इस उषा-देवताके गान गाते हुए मस्त होकर ऋषि नाचने लगत है, "उषे, तू परमेश्वरका सदेश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिम-कणोसे नहाकर आई है। तू अमृतत्वकी पताका है।" ऐसे भव्य हृदयगम वर्णन ऋषियोने उषाके किये है। वैदिक ऋषि कहते हैं—"तेरा दर्शन करके, जो कि परमेश्वरकी सदेश-वाहिका है, यदि परमेश्वरका रूप न दिखाई दे, न समझमें आये तो फिर मुझे परमेश्वरका परिचय कौन करायेगा।" इतनी सुदरतासे सज-धजकर यह उषा सामने खडी है, परंतु हमारी निगाह वहातक जाय तब न?

उसी तरह उस सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन है। वह नाना प्रकारके रंग-बिरंगे चित्र आकाशमें खीचता है। चित्रकार महीनों कूची इधर-उधर घुमाकर सूर्योदयके चित्र बनाते और उनमें रंग भरते है। परंतु तुम सुबह उठकर परमेश्वरकी कलाको देखो तो!

उस दिव्य कलाके लिए—उस अनन्त सौन्दर्यके लिए भला क्या उपमा दी जा सकेगी? परन्तु देखता कौन है? उधर सुंदर भगवान् खड़ा है और इधर यह मनुष्य और भी रजाई ओढ़कर नींदमें खुर्राटे भरता है। सूर्य कहता है—"अरे आलसी, तू तो पड़ा ही रहना चाहता है, किन्तु मैं तुझे उठाऊंगा।" और ऐसा कहकर वह अपने जीवन-किरण खिड़कियोंमेंसे भेजकर उस आलसीको जगा देता है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

सूर्य समस्त स्थावर-जंगमका आत्मा है। चराचरका आधार है। ऋषिने उसे 'मित्र' नाम दिया है—

"मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो,
मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम।"

"यह मित्र लोगोंको पुकारता है, उनको काम-धाममें लगाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वीको धारण किये है।" सचमुच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमें परमात्माके दर्शन करो।

और वह पावन गंगा! जब मैं काशीमें था तो गंगाके किनारे जाकर बैठ जाया करता। रातमें, एकांत समयमें जाता था। कितना सुंदर और प्रसन्न उसका प्रवाह था। उसका वह भव्य गंभीर प्रवाह और उसके उदरमें संचित वे आकाशके अनंत तारे! मैं मूक बन जाता। शंकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गंगा, जिसके तीरपर राज-पाटको तृणवत् फेंककर राजा लोग तप करने जाते थे, उस गंगाका दर्शन करके मुझे असीम शांति अनुभव होती। उस शांतिका वर्णन मैं कैसे करूं? वाणीकी वहां सीमा आ जाती है। यह समझमें आने लगा कि हिन्दू यह क्यों चाहता है कि मरनेपर कम-से-कम मेरी अस्थि तो गंगामें पड़ जाय? आप हंसिये। आपके हंसनेसे कुछ बिगड़ता नहीं, परन्तु मुझे ये भावनाएं बहुत पवित्र और संग्रहणीय मालूम होती हैं। मरते समय गंगाजलके दो बूंद मुंहमें डालते हैं। वे दो बूंद क्या हैं; मानो परमेश्वर ही मुंहमें उतर आता है। उस गंगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी-बाहरी कूड़ा-कर्कट वह माता धो रही

है, वहा ले जा रही है। गंगामातामें यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे तो कहां दिखाई देगा? सूर्य, नदिया, घू-घू करके हिलोरें मारनेवाला वह विशाल सागर, ये सब परमेश्वरकी ही मूर्त्तिया है।

और वह हवा! कहासे आती है, कहा जाती है, कुछ पता नही। यह भगवान्का दूत ही है। हिन्दुस्तानमें कुछ हवा स्थिर हिमालयपर-से आती है, कुछ गभीर सागरपरसे। यह पवित्र हवा हमारे हृदयको छूती है, हमें जाग्रत करती है, हमारे कानोमें गुनगुनाती है; परतु इस हवाका सदेश सुनता कौन है? जेलरने यदि हमारा चार सतरोका खत न दिया तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मदभागी, क्या रखा है उस चिट्ठीमें? परमेश्वरका यह प्रेम-संदेश, हवाके साथ हर घडी आ रहा है, उसे तू सुन!

और हमारे घरके नित्य काम-काजमें आनेवाले इन पशुओंको देखो! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममता व प्रेमसे परिपूर्ण है! दो-दो तीन-तीन मीलसे, जगल-झाडियोसे अपने बछडोके लिए कैसी दौडकर आती है! वैदिक ऋषियोको पहाडो-पर्वतोसे स्वच्छ जलको लेकर कल-कल करती हुई आनेवाली नदियां देखकर अपने बछडोके लिए दूध-भरे स्तनोको लेकर रंभाती हुई आनेवाली वत्सल गायोकी याद हो आती है। वह ऋषि नदीसे कहता है—"हे देवि, दूधकी तरह पवित्र पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय जंगलमें ही नही रह सकती, वैसे ही तुम नदियोंसे भी पर्वतोमें नही रहा जा सकता। तुम सरपट दौडती हुई प्यासे बालकोंसे मिलनेके लिए आती हो।"

"वाश्रा इव धेनवः स्यंदमानाः"

वत्सल गायके रूपमें भगवान् ही दरवाजेपर खडा है।

और उस घोडेको देखो! कितना ईमानदार, कितना वफादार। अरब लोग अपने घोडोसे कितना प्यार करते है। उस अरबकी कहानी तुम्हे मालूम है न? एक विपत्ति-ग्रस्त अरब एक सौदागर को घोडा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है। हाथमें मुहरोकी थैली लेकर वह तबेलेमें जाता है, परतु घोडेकी उन गभीर और प्रेम-पूर्ण आंखोपर उसकी निगाह पडती

हैं तो वह थैली फेंक देता है और कहता है कि "मेरी जान चली जाय पर मैं घोडा नही वेचूगा। मेरा जो कुछ होना होगा हो जायगा। खाना न मिले तो पर्वाह नही, परंतु घोडा नही वेचूगा। खुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही कैसे वह प्रेमसे फुरफुराता है, कैसी वढिया उसकी अयाल ! सचमुच घोडेमें अनमोल गुण हैं। उस साइकिलमें क्या रखा है? घोडेको खुर्रा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोडेपर वैठना सीख रहा था। घोडा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—घोडा तो वैठने ही नही देता। मैंने उससे कहा—"तुम सिर्फ घोडेपर वैठनेके ही लिए जाते हो, मगर उसकी खिदमत भी करते हो या नही ? खिदमत तो करे दूसरा और उसकी पीठपर सवारी करो तुम, यह कैसा ? तुम खुद उसे दाना-पानी दो, खुर्रा करो और फिर सवारी करो!" उसने वैसा ही किया। कुछ दिनो वाद मुझसे आकर कहा—अव घोडा गिराता नही है। घोड़ा तो परमेश्वर है। वह भक्तको क्यो गिरायेगा! उसकी भक्ति देखकर घोडा नरम हो गया। घोडा जानना चाहता है कि यह भक्त है या और कोई। भगवान् श्रीकृष्ण खुद खुर्रा करते थे और अपने पीताम्वरमें दाना लाकर उसे खिलाते थे। टेकरी आगई हो, नाला आगया हो, कीचड आगया हो, साइकिल रुक जाती है, मगर घोडा फादता चला ही जाता है। यह सुदर प्रेममय घोडा मानो परमेश्वरकी मूर्ति ही है।

और उस सिंहको लो! वडोदेमें मैं रहता था। सुवह-ही-सुवह उसकी गर्जना की गमीर ध्वनि कानोमें पडती। उसकी आवाज इतनी गभीर और उम्दा होती थी कि हृदय डोलने लगता। मदिरोके गर्भगृहोमें जैसी आवाज गूजती है, वैसी ही गंभीर उसके हृदय-गर्भकी वह ध्वनि थी। और सिंहकी वह धीरोदात्त, भव्य, निर्भय मुद्रा, उसका वह शाही ढग व शाही वैभव ! यह भव्य सुदर अयाल, मानो चवर ही उस वनराज पर ढल रहे हो। वडौदेके एक वागमें यह सिंह था। वहा वह आजाद नही था, पिजडोमें चक्कर काटता था। उसकी आखोमें जरा भी क्रूरता नही मालूम होती थी। उसकी मुद्रा व दृष्टिमें करुणा भरी हुई थी। मानो ससारकी उसे कुछ परवाह नही थी। अपने ही ध्यानमें वह मग्न दिखाई देता था।

सचमुच ही ऐसा मालूम होता है मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमें मैंने एण्ड्रोक्लीज और सिंहकी कहानी पढी थी। कितनी बढिया कहानी है वह ! वह भूखा प्यासा सिंह एण्ड्रोक्लीजके पहलेके अहसानको स्मरण करके उसका दोस्त हो जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। इसका क्या मर्म है ? एण्ड्रोक्लीजने सिंहमें रहनेवाले परमेश्वरका दर्शन कर लिया था। भगवान् शकरके पास सदैव सिंह रहता है। सिंह भगवान्‌की दिव्य विभूति है।

और शेरकी भी क्या कम मौज है ? उसमें बहुतेरा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असभव नही। भगवान् पाणिनि अरण्यमें बैठे शिष्योको पाठ पढा रहे थे। इतनेमें शेर आगया। लडके डरसे चिल्लाने लगे—"व्याघ्र, व्याघ्र"। पाणिनिने कहा—"अच्छा, व्याघ्रका मतलव क्या है ? 'व्याजिघ्रतीति व्याघ्र' अर्थात् जिसकी घ्राणेन्द्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोको उससे कुछ डर लगा हो, पर भगवान् पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनंदमय शब्द मात्र हो गया था। वाघको देखकर वे उस शब्दकी व्युत्पत्ति वताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परंतु वाघके खा जानेसे क्या हुआ ? पाणिनिके शरीरकी मीठी गध उसे लगी, उसका मन चल गया व उसने फाड खाया। परन्तु पाणिनि वहासे भाग नही छूटे ; क्योकि वे तो शब्दब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सव कुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमें भी वे शब्द-ब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महानताके कारण ही भाष्योमें जहा कही उनका नाम आया, वहा-वहा 'भगवान् पाणिनि' इस तरह पूज्य-भावसे उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनिका अन्यत उपकार मानते हैं—

अज्ञानांधस्य लोकस्य ज्ञानांजन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

ऐसे भगवान् पाणिनि व्याघ्रमे परमात्माका दर्शन कर रहे हैं ज्ञानदेवने कहा है—

घर आवे क्यो न स्वर्ग, या आ चढे व्याघ्र,
तो भी आत्म-बुद्धिमें भंग, न हो कभी।

ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गई थी। वे इस बातको समझ गए थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

वैसे ही सापको भी समझो। सापसे लोग बहुत डरते हैं। परंतु साप मानो कठोर शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ! कितना सुंदर! जरा भी गंदगी उसे बर्दाश्त नही। गंदे ब्राह्मण कितने ही दिखाई देते है, परंतु गंदा साप कभी किसीने देखा? मानो एकांत-वासी ऋषि ही हो। निर्मल, सतेज, मनोहर हार जैसा वह साप। उससे डरनेकी क्या जरूरत? हमारे पूर्वजोने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिए कि हिंदू-धर्ममें न जाने क्या-क्या वहम फैले हुए है; परंतु नाग-पूजाका विधान उसमें जरूर है। बचपनमे मैं अपनी माके लिए उबटनसे नागका चित्र बना दिया करता था। मै मासे कहता—"बाजारमे तो अच्छा चित्र मिल जाता है मा!" वह कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नही चाहिए। अपने बच्चेका बनाया चित्र अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजा की जाती। यह क्या पागलपन है? परंतु जरा विचार कीजिए। वह सर्प श्रावण मासमें अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमें पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा? दूर एकातमें रहनेवाला वह ऋषि आपको फिजूल तकलीफ न हो, इस खयालसे किसी छप्परके नीचे कही लकडियोमें पडा रहता है। कमसे-कम जगह वह घेरता है। परंतु हम डंडा लेकर जा पहुचते है। संकट-ग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाय तो क्या उसे मारना उचित है? संत फ्रांसिसके लिए कहा जाता है कि जब जगलमें साप दिखाई देता तो वह उससे बडे प्रेम-भावसे कहता—"आ, भाई आ!". साप उसकी गोदीमें खेलते, उसके शरीरपर इधर-उधर चढ जाते। इसे झूठ मत समझिए। प्रेममें अवश्य ऐसी शक्ति रहती है। सापको कहते हैं कि वह विषैला है; परंतु मनुष्य क्या कम विषाक्त है? सांप तो कभी-कभी काटता है। खुद होकर नही काटता। सौ में नब्बे तो निर्विष ही होते है। तुम्हारी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करने वाले असंख्य कीटो और जतुओको खाकर रहता है। ऐसा यह उपकारी, शुद्ध, तेजस्वी, एकात-प्रिय सर्प भगवान्का रूप है।

हमारे तमाम देवताओंमें कहीं-न-कहीं सांप जरूर आता है। गणेशजीकी कमरमें सांपका कमर-पट्टा बधा हुआ है। शंकरके गलेमें साप लिपटे रहते हैं और भगवान् विष्णु तो नाग-शय्यापर ही सोये हुए हैं। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह कि नागके द्वारा यह ईश्वरीयमूर्ति ही व्यक्त हुई है। सर्पस्थ इस परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

[५३]

ऐसे कितने उदाहरण दू? मैं तो सिर्फ खयाल दे रहा हू। रामायण-का सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामें ही है। रामायणमें पिता-पुत्रका प्रेम, मा-बेटोका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, यह सबकुछ है, परंतु मुझे रामायण इसके लिए प्रिय नही है। मुझे वह पसंद इसलिए है कि रामकी मित्रता वानरोसे हुई। आजकल कहते है कि वे वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोका काम ही है, पुरानी बातोकी छानबीन करना। उनके इस कार्यपर मैं आपत्ति नही उठाता, लेकिन रामने यदि असली वानरोसे मित्रता की हो तो इसमें असभव क्या है? रामका रामत्व, रमणीयत्व सचमुच इसी बातमें है कि राम और वानर मित्र हो गये। इसी तरह कृष्णका और गायोका सबध। सारी कृष्ण पूजाका आधार यही कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिये तो आपको इर्द-गिर्द गायें खडी मिलेंगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण! यदि कृष्णसे गायोको अलग कर दो तो फिर कृष्णमे बाकी क्या रहा? रामसे यदि वानर हटा दिये तो फिर उस राममें भी क्या राम बाकी रहा? रामने वानरोमें भी परमात्माके दर्शन किये व उनके साथ प्रेम और घनिष्ठता का संबध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुजी! इस कुजीको आप भूल जायगे तो रामायणकी मधुरता खो देंगे। पिता-पुत्रका, मा-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परतु नर-वानरकी यह अनन्य मधुर मैत्री सिर्फ रामायणमें ही मिलेगी, और कही नही। वानरमें स्थित भगवान्‌को रामायणने आत्मसात् किया। वानरोको देखकर ऋषियोको बडा कौतुक होता। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तटतक जमीनपर पैर न रखते हुए

वे वानर एक पेडसे दूसरे पेडपर कूदते-फादते और क्रीडा करते घूमते थे। ऐसे उस सघन वनको और उसमें क्रीडा करनेवाले वानरोको देखकर उन सहृदय ऋषियोंके मनमें कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्म की आखें कैसी होती है, यह बताते हुए उपनिषदोने बदरोकी आखोकी उपमा दी है। बदरकी आखें बडी चचल, चारो ओर उनकी निगाह। ब्रह्मकी आखें ऐसी ही होनी चाहिए। ईश्वरका काम आखें स्थिर रखनेसे न चलेगा। हम आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते है। परतु यदि ईश्वर ही ध्यानस्थ हो जाय तो फिर दुनियाका क्या हाल हो। अत बदरोमें ऋषियोको सबकी चिता रखनेवाली ब्रह्मकी आखें दिखाई देती है। वानरोमें परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

और वह मोर—महाराष्ट्रमें मोर बहुत नही है, परतु गुजरातमें उनकी विपुलता है। मै गुजरातमें था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखाई देते थे। जब आकाशमें बादल छा रहे हो मेह बरनेकी तैयारी हो आकाशका रग गहरा श्याम हो गया हो तब मोर अपनी ध्वनि सुनाता है। हृदयसे खिचकर निकलनेवाली उसकी वह तीव्र पुकार एक बार सुनो तो मालूम हो। हमारा सारा सगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनिपर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज—"षड्ज रौति"। यह पहला 'षड्ज' हमें मोरसे मिला फिर घटा-बढाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गडी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गंभीर ध्वनि और मेघकी गडगड गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी वह पूछकी छत्री! अहा हा! छत्रीके उस सौन्दर्य-के सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते है, परतु मोर-पुच्छकी छत्रीके सामने वे क्या सजेंगे? कैसा उसका भव्य दृश्य! वे हजारो आखें, वे रग-बिरगी अनन्त छटाए, वह अद्भुत सुन्दर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेल-बूटा! जरा देखिए तो उस छत्रीको और उसमें परमात्मा भी देखिए! यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खडा है; परतु उसे न देखनेवाले हम अभागे! तुकाराम ने कहा है—

'प्रभुका सर्वत्र सुकाल, अभागीको है अकाल।'

संतोंके लिए सर्वत्र सुकाल है। परंतु हम अभागोंके लिए सब जगह अकाल है।

वेदोमें अग्निकी उपासना बताई गई है। अग्नि नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति ! दो लकड़ियोको रगडिए, वह प्रकट हो जाता है। क्या जाने पहले कहां छिप रहा था। कितना गरम, कितना तेजस्वी ! वेदोकी जो पहली ध्वनि निकली, वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

> अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
> होतारं रत्नधातमम्।"

जिस अग्निकी उपासनासे वेदोका आरंभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाए देखनेसे मुझे जीवात्माके उखाड-पछाडकी याद आ जाती है। वे ज्वालाएं, वे लपटें चाहे घरके चूल्हेकी हो, चाहे जंगलकी दावाग्निकी हो—वैरागीके घरबार जैसा तो होता ही नही। वे ज्वालाए जहा होगी, वहा उनकी वह दौड़-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती रहती हैं। वे ज्वालाए और ऊपर जानेके लिए आतुर रहती है। आप—विज्ञान-वेत्ता—लोग कहेगें कि ईथरके कारण ये ज्वालाएं हिलती है, हवाके दबावके कारण हिलती हैं। परंतु कम-से-कम मेरा अर्थ यह है। वह ऊपर जो परमात्मा है, वह तेज-समुद्र सूर्य-नारायण जो ऊपर है, उससे मिलनेके लिए वे निरन्तर उछल रही हैं। जन्मसे लेकर मरनेतक उनकी यह दौड-धूप जारी रहती है। सूर्य अशी है और ये ज्वालाए अश हैं। अश अशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटें बुझ जायंगी तभी वह दौड-धूप बद होगी, वरना नही। सूर्यसे हम बहुत दूरीपर हैं, यह विचार भी उनके मनमें नही आता। वे इतना ही जानती हैं कि अपनी शक्ति भर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जायं। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमें जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसलिए वेदकी पहली ध्वनि हुई—'अग्नि मीळे'।

और मैं उस कोयलको कैसे भुलाऊ ? किसे पुकारती है वह ? गर्मियोमें नदी-नाले सूख गये, परतु वृक्षोमें नव-पल्लव छिटक रहे हैं।

वह यह तो नहीं पूछ रही है कि किसने उसे यह वैभव प्रदान किया, कहां है वह वैभवदाता ? कैसी उत्कट मधुर कूक ! हिंदूधर्ममें कोयलके व्रतका तो विधान ही है । स्त्रियां व्रत लेती हैं कि कोयलकी आवाज सुने बिना वे भोजन नहीं करेंगी । कोयलके रूपमें प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है । वह कोयल कितनी सुंदर कूक लगाती है, मानो उपनिषद् ही गाती है । उसकी कुहू-कुहू तो कानोंको सुनाई देती है, परंतु वह दिखाई नहीं देती । वह अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ उसके पीछे पागल होकर जंगल-जंगल उसकी खोजमें भटकता है । इंगलैण्डका महान् कवि कोयलको खोजता है, परंतु भारतमें तो घरोंकी सामान्य स्त्रियां कोयल न दिखाई दे तो खाना भी नहीं खाती । इस कोकिला-व्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियोंने महान् कविकी पदवी प्राप्त कर ली है । जो कोयल परम आनंदकी मधुर ध्वनि सुनाती है, उसके रूपमें सुंदर परमात्मा ही अभिव्यक्त हुआ है ।

कोयल तो सुंदर और वह कौआ क्या भद्दा है ? कौवेका भी गौरव करो । मुझे तो वह बहुत प्रिय है । उसका वह घना काला रंग, वह तीव्र आवाज ! वह आवाज क्या बुरी है ? नहीं, वह भी मीठी है । वह पंख फड़फड़ाता-हुआ आता है तो कितना सुन्दर लगता है ! छोटे बच्चोंका चित्त खींच लेता है । नन्हा बच्चा बन्द घरमें खाना नहीं खाता । बाहर आंगनमें बैठकर उसे जिमाना पड़ता है और चिड़िया, कौवे दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है ! कौवेके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा क्या पागल है ? वह पागल नहीं, उसमें ज्ञान भरा हुआ है । कौवेके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा फौरन एक रूप हो जाता है । माता चावलपर चाहे दही परोसे, दूध परोसे या शकर परोसे, उस बच्चेको उसमें कोई रस नहीं । उसे आनंद है, कौवेके पंख फड़फड़ानेमें, उसके मुंह बिचकानेमें । सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोंको जो इतना कौतुक मालूम होता है, उसीपर तो सारी 'ईसप-नीति' रची गई है । ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था । अपनी प्रिय पुस्तकोंकी सूचीमें मैं ईसप-नीतिका नाम सबसे पहले रखूंगा, भूलूंगा नहीं । ईसपके राज्यमें दो हाथोंवाला, दो पांवोंवाला वह मनुष्य प्राणी ही अकेला नहीं है । उसमें सियार, कुत्ते, कौवे, हिरन, खरगोश, कछुए, सांप, केंचुए सभी

बातचीत करते हैं, हंसते हैं। एक प्रचंड सम्मेलन ही समझिए न ! ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया है। रामायण भी इसी तत्वपर, इसी दृष्टिपर रची है । तुलसीदासने रामकी बाल-लीलाका वर्णन किया है । राम आगनमें खेल रहे हैं । एक कौवा पास आता है, राम उसे अहिस्तासे पकडना चाहते हैं । कौवा पीछे फुदक जाता है। अतमें राम थक जाते है । परतु उन्हे एक तरकीव सूझती है। मिठाईका एक टुकडा लेकर राम कौवेके पास जाते है । राम टुकडा जरा आगे बढाते हैं, कौवा कुछ नजदीक आता है। इस तरहके वर्णनमें तुलसी-दास कई पृष्ठ खर्च कर जाते हैं; क्योकि वह कौवा परमेश्वर है। रामकी मूर्तिका अश ही उस कौवेमें भी है। राम और कौवेकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है ।

[५४]

सारांश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमें विविध रूपोमें—पवित्र नदियोके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गभीर सागरके रूपमें, वत्सल गो-माताके रूपमें, उम्दा घोडेके रूपमें, दिलेर सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमे, सुदर मोरके रूपमें, स्वच्छ व एकातप्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड-फडानेवाले कौवेके रूपमें, दौड-धूप करनेवाली ज्वालाओंके रूपमें, प्रशान्त तारोके रूपमे सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है । आखोको उसे देखनेका अभ्यास कराना है । पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। सयुक्ताक्षर न सीख लेंगे तबतक पढनेमें प्रगति नही हो सकती। संयुक्ताक्षर कदम-कदमपर आयंगे। दुर्जनोंमे स्थित परमात्मा को देखना भी सीखना चाहिए। राम समझमें आता है, परतु रावण भी समझमें आना चाहिए । प्रह्लाद जचता है, परंतु हिरण्यकशिप भी जचना चाहिए । वेदमें कहा है—

"नमोनमः स्तेनानां पतये नमोनमः
नमः पुंजिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्यः"
"ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः ।"

"उन डाकुओंके सरदारोको नमस्कार ! उन क्रूरोंको, उन हिंसकोको नमस्कार। ये ठग, ये चोर, ये डाकू सब ब्रह्म ही है । इन सबको नमस्कार ।"

इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये, अब कठिन अक्षरोको भी सीखो । कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है । उसने उसमें नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है । यहा शुद्ध परमात्मा नही है, मिश्रण है, परतु इस परमेश्वरको भी पचा लेना चाहिए । इसीलिए तुलसीदासने रावणको रामका विरोधी भक्त कहा है । हा, इस भक्तके रग-ढंग जरा भिन्न है । आगसे जल जानेपर पांव सूज जाता है, परतु सूजनपर सेंक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही; पर अविर्भाव भिन्न-भिन्न है। राम और रावणमें अविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया तो भी वह है एक ही परमेश्वरका ।

स्थूल व सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर व सयुक्ताक्षर, सब सीखो और अतमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरके सिवाय एक भी स्थान नही है । अणु-रेणुमें भी वही है। चीटीसे लेकर सारे ब्रह्माडतक सर्वत्र परमात्मा ही से व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता रखनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुदर, परमात्मा हमारे चारो ओर सर्वत्र खडा है ।

रविवार, २४-४-३२

ग्यारहवां अध्याय

[५५]

भाइयो, पिछली बार हमने इस बातका अभ्यास किया कि इस विश्वकी अनंत वस्तुओमें व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचानें और हमारी आखोंको जो यह विराट् प्रदर्शनी दिखाई देती है, उसे आत्मसात् कैसे करें ? पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म, पहले सरल, फिर मिश्र—इस प्रकार सब चीजोंमें भगवान्को देखें, उसका साक्षात्कार करें, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखें—यह हमने पिछले अध्यायमें देख लिया।

अब, आज ग्यारहवें अध्यायपर नजर डालना है । इस अध्यायमें भगवान्ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुनपर अपनी परम कृपा दिखलाई हैं। अर्जुनने भगवान्से कहा—"प्रभो, मैं आपका वह संपूर्ण रूप देखना चाहता हूं, जिसमें आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आंखोंसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह माग विश्व-रूप दर्शनकी थी।

हम 'विश्व', 'जग'—इन शब्दोका प्रयोग करते हैं । यह 'जग' विश्वका एक छोटा-सा भाग है। इस छोटेसे टुकडेको भी हम समझ नही पाते। सारे विश्वकी दृष्टिसे देखे, तो यह जग, जो हमें इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ वस्तु है ऐसा मालूम होगा। रातके समय आकाशकी ओर जरा दृष्टि डालें तो अनत गोल दिखाई देते हैं। आकाशके आगनकी वह रगावलि, वे छोटे-छोटे सुदर फूल, वे लुक-लुक करनेवाली लाखो तारिकाए, इन सबका स्वरूप आप जानते हैं ? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाएं, महान् प्रचंड हैं। उनके अदर अनत सूर्योंका समावेश हो जायगा। वे रसमय तेजोमय ज्वलंत धातुओके गोल पिंड हैं। ऐसे इन अनत पिंडोका हिसाब कौन लगावेगा ? न इनका अत है न पार।

खाली आखोसे ही ये हजारो दीखते हैं। दूरबीनसे देखें तो करोड़ो दिखाई देते हैं। उससे बडी दूरबीन हो तो परार्वों दीखने लगेंगे। और यह समझमें आना कठिन हो जायगा कि आखिर इनका अंत कहा है, कैसा है? यह जो अनंत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकडा 'जग' कहलाता है; परतु यह जग भी कितना विशालकाय दीख पड़ता है !

यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू हुआ। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह है काल। यदि हम पिछले कालपर निगाह दौडावें तो इतिहासकी मर्यादामें बहुत हुआ तो दस हजार सालतक पीछे जा सकेंगे, आगेका काल तो ध्यानमें ही नही आता। इतिहास-काल दस हजार वर्षोंका और खुद हमारा जीवनकाल तो मुश्किलसे सौ सालका है! वास्तवमें कालका विस्तार अनादि व अनंत है। कितना काल बीता है इसका कोई हद-हिसाब नही। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नही होती। हमारा 'जग' जैसे विश्वकी तुलनामे बिलकुल तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस हजार साल अनंतकाल की तुलनामें कुछ भी नही हैं। भूतकाल अनादि है, व भविष्यकाल अनंत है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल बात करते-करते भूतकालमें चला जाता है। वर्तमान-काल सचमुच कहा है यह बताने जाते हैं तबतक वह भूतकालमें विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यत चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हू, परतु मुंहसे शब्द निकला नही कि वह भूतकालमें विलीन हुआ नही! इस तरह यह महान् काल-नदी एक-सी बह रही है। न उसके उद्गमका पता है न अंतका! बीचका थोडासा प्रवाह-मात्र हमें दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचड विस्तार और दूसरी ओर कालका जबरदस्त प्रवाह, इन दोनो सृष्टियोंसे सृष्टिकी ओर देखें तो समझ जायगे कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खीचनेपर भी इसका कोई अत नहीं आ-सकता। तीनों काल व तीनों स्थलमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें एव ऊपर, नीचे तथा यहा सब जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर एक साथ एक बारगी दिखाई दे, परमेश्वरका इस रूपमें दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुन के मनमें उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेंसे ग्यारहवा अध्याय प्रकट हुआ है।

अर्जुन भगवान्को बहुत ही प्यारा था। कितना प्यारा था ? इतना कि दसवें अध्यायमें किन-किन स्वरूपोमें मेरा चिंतन करो, यह बताते हुए भगवान् कहते है—"पांडवोमें जो अर्जुन है उसके रूपमें मेरा चिंतन करो।" श्रीकृष्ण कहते है—"पांडवोंमें धनंजय !" इससे अधिक प्रेमका पागलपन प्रेमोन्मत्तता, कहां होगी ? यह इस बातका उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है। अर्जुनपर भगवानकी अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवां अध्याय उस प्रीतिका प्रसाद रूप है। दिव्य रूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवान्ने उसे दिव्य दृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुनको उन्होंने प्रेमका प्रसाद दिया।

[५६]

उस दिव्य-रूपका सुदर वर्णन, भव्य वर्णन इस अध्यायमें है। यद्यपि यह सब सच है तो भी इस विश्वके विषयमें मैं खास लोभ नही दिखा सकता। मै छोटेसे रूपपर ही सतुष्ट हूं। जो छोटा-सा सादा सुदर रूप मुझे दीखता है, उसकी माधुरीका अनुभव करना मै सीख गया हू। परमेश्वर टुकडोंमें विभाजित नही है। मुझे ऐसा नही प्रतीत होता कि परमेश्वरका जो रूप हम देख पाते है, वह उसका एक टुकडा है और बाकी परमेश्वर बाहर बचा हुआ है; बल्कि मै देखता हूं कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमें व्याप्त है, वही संपूर्ण रूपमें जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमें, मिट्टीके एक कणमें भी व्याप्त है, कम किसी कदर भी नही। अमृतके सिंधुमें जो मिठास है, वही एक बिंदुमें भी होती है। मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी बूद मुझे मिल गई है, उसीकी मिठास मैं चखता रहूं। अमृतका दृष्टात मैंने जान-बूझकर लिया है। पानी या दूधका नही लिया है। एक प्याले दूधमें जो स्वाद होगा वही एक लोटेभर दूधमें होगा; परतु स्वाद चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नही हो सकती। एक बूद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमें पुष्टि अधिक है; परंतु अमृतके उदाहरणमें यह बात नही है। अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूदमें हई है, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। बूद भर अमृत भी गलेके नीचे उतर गया तो उससे अमृतत्व ही मिलेगा।

उसी तरह जो दिव्यता, जो पवित्रता परमेश्वरके विराट स्वरूपमें है, वही एक छोटी-सी मूर्तिमें भी है। यदि एक मुटठीभर गेहूं मुझे नमूनेको लाकर दिये, उसपरसे यदि मुझे गेहूंकी पहचान न हुई तो फिर बोरी भर गेहूं भी यदि मेरे सामने रख दिये तो वह कैसे होगी ? छोटे ईश्वरका जो नमूना, मेरी आंखोंके सामने है, उससे यदि ईश्वरको मैंने नही पहचाना तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मै कैसे पहचानूगा ? छोटे-बडे इनमें क्या है ? छोटे रूपको पहचान लिया तो बडेकी पहचान हो ही गई। अत मुझे यह आकांक्षा नहीं होती कि ईश्वर अपना बडा रूप मुझे दिखावें। अर्जुनकी तरह विश्वरूप दर्शनकी माग करनेकी योग्यता भी मुझमें नही है। फिर जो-कुछ मुझे दीखता है, वह विश्व-रूपका कोई टुकडा है, ऐसी बात नही। किसी तस्वीरका कोई टूटा टुकडा ले आवे तो उससे सारे चित्रका खयाल हमें नहीं हो सकता; परतु परमात्मा इस तरह टुकडोंसे बना हुआ नही है। परमात्मा न कटा हुआ है, न खंड-खड किया हुआ है। एक छोटेसे स्वरूप-शक्लमें भी वह अनंत परमेश्वर सारा-का-सारा ही समाया हुआ है। छोटे फोटो व बडे फोटोमें क्या फर्क है ? जो बातें बडे फोटोमे होती है, वही सब जैसीकी तैसी छोटे फोटोमें भी होती है। छोटा फोटो बडे फोटो-का टुकडा नही है। छोटे टाइपके अक्षर हो तो भी वही अर्थ होगा व बडे टाइपके अक्षर हो तो भी वही होगा। बडे टाइपमें बडा अर्थ व छोटेमें छोटा अर्थ होता हो, सो बात नही।

मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है। मूर्ति-पूजापर अबतक अनेक लोगोने हमले किये है। बाहरके और यहाके भी कुछ विचारकोने मूर्ति-पूजाको अनुचित बताया है, परंतु मैं ज्यो-ज्यो विचार करता हूं, त्यो-त्यो मूर्ति-पूजाकी दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट खडी हो जाती है। मूर्ति-पूजाका अर्थ क्या है ? एक छोटी-सी चीजमें सारे विश्वको अनुभव करनेकी विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गावमें सारे ब्रह्माडको देखनेकी विद्या सीखना, यह बात क्या गलत है ? यह कल्पना नही, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट्-स्वरूपमें जो कुछ है, वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमें है, वही एक मृत्कणमें है। उस मिट्टीके ढेलेके नीचे आम, केले, गेहू, सोना, तावा, चादी सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके अदर है। जिस तरह

किसी छोटी नाटक-मडलीमें वेही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रंगभूमिपर आते है, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमे काम भी करता है, उसी तरह परमात्मा भी अनत नाटक लिखता है व खुद अनत पात्रोंके रूपमें सजकर रंग-भूमिपर अभिनय करता है। इस अनत नाटकका एक पात्र पहचान लिया तो फिर सारे पात्रोको पहचान लिया जैसा होगा।

काव्यकी उपमा, दृष्टात आदिके लिए जो आधार है, वही मूर्ति-पूजाके लिए भी है। किसी गोल वस्तुको हम देखते है तो हमें आनद होता है; क्योकि उसमें एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वांग सुन्दर है। उसमें व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु याने व्यवस्थित ईश्वरकी मूर्ति। परतु जंगलमें उपजा टेढा-तिरछा पेड भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमें ईश्वरकी स्वच्छंदता है। उस पेडको कोई बंधन नही है। ईश्वरको कौन बधनमें डालेगा? वह बन्धनातीत परमेश्वर उस टेढे-मेढे पेड़में है। कोई सीघा-सरल खभा देखते है, तो उसमें ईश्वरकी समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खभा देखें तो उसमें आकाशमें नक्षत्रोके बेल-बूटे काढनेवाला परमेश्वर दिखाई देता है। किसी कटे-छटे व्यवस्थित बागमें ईश्वरका संयम रूप दिखाई देता है, तो किसी विशाल बनमें ईश्वरकी भव्यता व स्वतन्त्रताके दर्शन होते है। जगलमें भी आनद मिलता है व व्यवस्थित बागमें भी। 'तो फिर क्या हम पागल है? नही, आनंद दोनो में ही होता है, क्योकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमें प्रकट हुआ है। चिकने शालग्रामकी बट्टीमें जो तेज है, वही एक ऊबड़-खाबड नर्मदाके 'शंकर'मे है। अत. मुझे वह विराट् स्वरूप अलहदा न भी दिखाई दे तो हर्ज नही।

परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओमें भिन्न-भिन्न गुणोके द्वारा प्रकट हुआ है और इसीसे हमको आनद होता है—उस वस्तुके विषयमें आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनद होता है, वह अकारण नही। आनंद होता क्यो है? उससे कुछ-न-कुछ नाता होता है, इसीसे आनद होता है। बच्चेको देखते ही माका हिया उछलने लगता है; क्योकि वह नाता जानती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोडो। मुझमें जो

परमेश्वर हैं वही उस वस्तुमें है। इस प्रकार संबंध बढ़ाना ही आनंद बढ़ाना है। आनंदकी और कोई उपपत्ति नहीं है। आप प्रेमका संबंध सब जगह जोड़ने लगिये, फिर देखिये, क्या चमत्कार होता है। फिर अनन्त सृष्टिमें व्याप्त परमात्मा अणु-रेणुमें भी दिखाई देगा। एक बार वह दृष्टि प्राप्त हुई है तो फिर क्या चाहिए? परंतु इसके लिए इंद्रियोंको संस्कारकी, अभ्यास डालनेकी जरूरत है। हमारी भोग-वासना छूटकर जब हमें प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी तो फिर प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदोंमें इस बातका बड़ा सुन्दर वर्णन है। आत्माका रंग कैसा होता है। आत्माका रंग कौनसा बताया जाय? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते हैं—

"यथा अयं इंद्रगोपः"

यह जो लाल-लाल रेशमका मुलायम मृगका कीड़ा—बीरबहूटी है, उसकी तरह आत्माका रूप है। उस मृगके कीड़ेको देखते हैं तो कितना आनंद होता है। यह आनंद क्यों होता है? मेरा अपने प्रति जो भाव है, वही उस इंद्रगोपमें है। मुझसे उसका कुछ संबंध न होता तो आनद होता? मेरे अदर जो सुन्दर आत्मा है वही इद्रगोपमें भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यो देते हैं? उससे आनंद क्यो होता है? हम उपमा इसलिए देते है कि उन दो वस्तुओंमें साम्य होता है और इसीसे आनंद होता है। यदि उपमेय और उपमान बिलकुल भिन्न-भिन्न हो तो आनंद नहीं होगा। यदि कोई यह कहे कि नमक मिर्चकी तरह है तो हम उसे पागल कहेंगे। पर यदि कोई यह कहे कि तारे फूलोकी तरह हैं तो उनमें साम्य दिखाई देनेसे आनंद होगा। नमक मिर्चकी तरह है ऐसा कहनेसे सादृश्य अनुभव नहीं होता; परंतु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गई हो, जो परमात्मा नमकमें है, वही मिर्चमें है, ऐसा दर्शन जिसको हुआ हो, वह 'नमक कैसा? तो मिर्चकी तरह' है, इस कथनमें भी आनद अनुभव करेगा। सारांश यह कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमें लबालब भरा हुआ है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नहीं।

[५७]

फिर वह विराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे सगुण सुंदर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है, उसका अनुभव विश्व-रूप देखनेमे कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुनकी हो गई। वह थर-थर कांपते हुए अतमें कहता है, "भगवन् अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ।" अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा न करो। ईश्वर, जो तीनो कालो और तीनो स्थलोमें व्याप्त है, यही अच्छा है। वह तारा सिमिटकर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आकर खडा हो जाय तो मेरी क्या दशा होगी ? ये तारे कितने शात दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे वे मुझसे बातें कर रहे हो। परतु दृष्टिको शात करनेवाली वही तारिका यदि नजदीक आ जाय तो ? वह धधकती हुई आग ही है। मै खाक ही होकर रहूगा। ईश्वरके ये अनत ब्रह्माड जहा है वहा वैसे ही रहने दीजिए। उन सबको एक ही कमरेमें इकट्ठा कर देनेमें क्या आनद है ? बबईके उस कबूतरखानेमे हजारो कबूतर रहते हैं, वहा उन्हे क्या आजादी है ? वह दृश्य बडा अटपटा मालूम होता है। मजा इसीमें है, जो यह सृष्टि ऊपर, नीचे, यहा इन तीनो स्थलोमें विभाजित है। जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कलात्मक सृष्टिके लिए भी है। हमें भूतकालकी स्मृति नही रहती और भविष्यका ज्ञान नही होता, इसमें हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफमें पाच ऐसी वस्तुए बताई गई हैं, जिनमें सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्यप्राणीकी सत्ता बिलकुल नही है। उनमें एक है—भविष्यकालका ज्ञान। हम अदाज जरूर लगाते है, परतु अंदाजका अर्थ ज्ञान नही है। भविष्यका जो ज्ञान हमें नही होता, इसीमे हमारा कल्याण है। वैसे ही भूतकालकी जो स्मृति हमें नही रहती, यह भी सचमुच बडी शुभ बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आवे तो भी उसके भूतकालकी स्मृति मुझे होकर उसके प्रति मनमें आदर नही होता। वह कितना ही कहे, उसके पिछले पापोको मैं सहसा भूल नही सकता। संसार उसके पापोको उसी अवस्थामें भूल सकेगा, जब कि वह मनुष्य मरकर दूसरे रूपमें हमारे सामने आयेगा।

' पूर्व स्मरणसे विकार वढते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो गया तो फिर सब खतम। पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह तरकीब है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाएं असह्य लगती हैं, तब फिर पिछले जन्मोंके कूडे-करकटकी खोज क्यो करें? अपने इसी जन्मके कमरेमें क्या कम कूडा-करकट है? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते हैं। यह विस्मृति लाभदायी ही है। हिंदू-मुस्लिम ऐक्यके लिए भूतकालका विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरगजेबने बडा जुल्म ढाया, इसको कितने दिनोतक रटते रहोगे? गुजरातीमें रतनबाईका एक गरवा-गीत है। उसे हम बहुत-बहुत वार यहां सुनते हैं। उसके अंतमें कहा है—"संसारमें सबकी कीर्ति ही अंतमें रह जायगी। पापको लोग भूल जायगे।" यह काल छननी कर रहा है। इतिहासमें जितना कुछ अच्छा हो उतना ले लेना चाहिए। जो कुछ पाप हो, उसे फेंक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोडकर सिर्फ अच्छाईको ही याद करे तो क्या बहार हो? परतु ऐसा नही होता। इसलिए विस्मृति की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए भगवान्‌ने मृत्यु का निर्माण किया है।

मतलब यह कि यह जग जैसा है वैसा ही मंगल रूप है। इस काल-स्थलात्मक जगको एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नही है। अति-परिचय-में मजा नही है। कुछ चीजो से घनिष्ठता बढानी होती है, तो कुछ चीजोंसे दूर रहना होता है। गुरु होगा तो नम्रता-पूर्वक दूर बैठेंगे। परतु माकी गोदीमें जाकर बैठेंगे। जिस मूर्तिके साथ जैसा व्यवहार करने-की जरूरत हो, वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम नजदीक लें, परतु आगसे बचकर रहें। तारे दूरसे ही सुदर लगते हैं। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली वह सृष्टि अति निकट लानेसे हमें अधिक आनद होगा, सो बात नहीं। जो चीज जहां है, उसे वही रहने देनेमें मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है, उसको नजदीक लानेसे वह सुखदायी ही होगी, ऐसा नही कह सकते। उसे वही दूर रखकर ही उसके रसको चखना चाहिए। ढीठ बनकर बहुत घनिष्टता बढाकर अति परिचय कर लेनेमें कुछ सार नही है।

साराश यह कि तीनो काल हमारे सामने खड़े नही है, सो अच्छा ही है। तीनों कालका ज्ञान होनेसे आनंद अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नही कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हो हठ पकड ली, प्रार्थना की, तो भगवान्ने उसको मजूर कर लिया। उन्होने उसे अपना वह विराट् रूप दिखलाया; परंतु मुझे तो भगवान्का छोटा-सा रूप ही काफी है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकड़ा तो है नही और यदि टुकडा भी हो तो उस अपार व विशाल मूर्तिका एक पैर या एक पैरकी अगुली ही मुझे दीख गई तो भी मै कहूंगा—"धन्य है मेरा भाग्य !" अनुभवसे मैंने यह ज्ञान पाया है। जमनालालजीने जब वर्धामें लक्ष्मीनारायणका मदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया तो उस समय मै दर्शनके लिए गया था। पंद्रह-बीस मिनटतक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी हो गई। भगवान्का वह मुख, वह छाती, वे हाथ-पाव देखते-देखते पावोतक पहुचा, व अंतमें चरणोपर जाकर दृष्टि स्थिर हो गई। 'मधुर तेरी चरण-सेवा' यही भावना अंतमें रह गई। यदि एक छोटे-से रूपमें वह महान् प्रभु न समा जाता हो तो फिर उस महापुरुषके चरण ही दीख जाना काफी है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की। उसका अधिकार बडा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्यभाव था ! मेरी क्या योग्यता है ? मुझे तो चरण ही बस है, मेरा अधिकार इतना ही है।

[५८]

उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है उसमें बुद्धि चलानेकी मेरी इच्छा नही। उसमें बुद्धि चलाना पाप है। उस विश्व-रूप-वर्णनके उन पवित्र श्लोकोको हम पढते रहे व पवित्र हों। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपके टुकडे किये जायं यह मुझे नही भाता ? वह अघोर उपासना हो जायगी। अघोरपथी लोग श्मशानम जाकर मुर्दे चीरते है व तन्त्रोपासना करते हैं। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वरका वह दिव्य रूप—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥"

ऐसा वह विशाल व अनतरूप! उसके वर्णनात्मक श्लोकोको गावें, गाकर अपना मन निष्पाप, पवित्र बनावें।

परमेश्वरके इस सारे वर्णनमें सिर्फ एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, ये सब मरने ही वाले हैं—तू तो निमित्त-मात्र हो जा, करनें-धरनेवाला तो सब-कुछ मैं हूं।" यही ध्वनि मनमें गूंजती रहती है। जब यह विचार मनमें आता है कि हमें ईश्वरके हाथका एक हथियार बनाना है तो बुद्धि-विचार करने लगती है। ईश्वरके हाथका औजार बनें कैसे? क्या उसके हाथकी मुरली बनू? वह अपने ओठसे मुझे लगा लें व मधुर सुर निकालें, मुझे बजाने लगें, यह कैसे होगा? मुरली बनना यानी पोला बनना। पर मुझमें तो विकार व वासनाए ठसा-ठस भरी हुई है ऐसी दशामें मुझमेंसे मधुर स्वर कैसे निकलेगा? मेरा सुर तो है मद। मैं घन वस्तु हू। मुझमें अहकार भरा हुआ है। मुझे निरहकार होना चाहिए। जब मैं पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊंगा तभी परमेश्वर मुझे बजावेगा; परतु परमेश्वरके ओठोकी मुरली बनना है बडे साहसका काम। यदि उसके पैरोकी जूतिया बनना चाहू तो भी वह आसान नही है। वह ऐसी मुलायम जूती होनी चाहिए कि परमेश्वरके पावमें जरा भी छाले न होने पावे। परमेश्वरके पाव व काटे-ककर, इनके बीचमें मुझे पड जाना है। मुझे अपनेको कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा—मुलायम बनाना होगा। अत. परमेश्वरके पावोकी जूती बनना भी आसान नही है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नहीं बनना चाहिए। तपश्चर्याकी सान पर अपनेको चढाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वरके हाथमें मेरी जीवन-रूपी तलवार चमकनी चाहिए। यह गुजार मेरी बुद्धिमें होने लगता है। भगवान्के हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमें निमग्न हो जाता हूं। अब वह कैसे हो, इसकी विधि खुद भगवान्ने अतिम श्लोकमें बता दी है। श्रीशकराचार्यने अपने भाष्यमें इस श्लोकको 'सर्वार्थसार—सारी गीताका सार कहा है। वह श्लोक यह है—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"

... ...

मेरे अर्थ करे कर्म, मत्परायण भक्त जो।
जो अनासक्त निर्वैर सो आके मिलते मुझे॥

जिसका संसारमे किसीसे वैर नही, जो तटस्थ रहकर संसारकी निरपेक्ष सेवा करता है, जो कुछ करता है सो सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्तिसे सरावोर है, क्षमावान्, नि.सग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है, वह परमेश्वरके हाथका हथियार बनता है; ऐसा यह सार है।

रविवार, १-५-३२

बारहवां अध्याय

[५९]

गंगाका प्रवाह यों तो सभी जगह पावन व पवित्र है; परतु हरद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र है। उन्होने सारे ससारको पवित्र कर दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता शुरूसे अखीर तक सभी जगह पवित्र है। परतु बीचमें कुछ अध्याय ऐसे है, जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये हैं। आज जिस अध्यायके सबधमें हमें कहना है वह बडा पवित्र, तीर्थ-जैसा बन गया है। खुद भगवान् ही इसे 'अमृतधारा' कहते है—"ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।" यह छोटा-सा बीस श्लोकोका अध्याय, परतु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, संजीवन है। इस अध्यायमें भगवान् ने स्वमुखसे भक्ति-रसकी महिमा-का तत्व बताया है।

यों तो वास्तवमें छठे अध्यायसे भक्ति-तत्व प्रारभ हो गया है। पांचवें अध्यायके अततक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरण-रूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधना-रूप विकर्म, इन दोनोकी साधनासे संपूर्ण कर्मोको भस्म करनेवाली अतिम अकर्मकी भूमिका—इतनी बातोका विचार पहले पाच अध्यायोतक हुआ। यहातक जीवन-शास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्यायसे एक तरहसे भक्ति-तत्वका ही विचार ग्यारहवें अध्यायके अततक चला। एकाग्रतासे शुरुआत हुई। छठे अध्यायमें यह बताया गया कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन है व उसकी क्यो आवश्यकता है? ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई है। अब देखना यह है कि एकाग्रता से लेकर समग्रता तककी लबी मजिल हमने कैसे तय की?

चित्तकी एकाग्रतासे शुरुआत हुई। एकाग्रता सिद्ध होनेपर किसी भी

विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रताका उपयोग—मेरा प्रिय विषय यदि लें तो—गणितके अध्ययनमें हो सकेगा। उससे अवश्य फल-लाभ होगा; परंतु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साध्य नही है। गणितके अध्ययनसे एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नही होती। गणितमें अथवा ऐसे ही किसी ज्ञान-प्रान्तमें चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी; परंतु यह सच्ची परीक्षा नही है। इसलिए सातवें अध्यायमें यह बताया कि हमारी दृष्टि भगवान्के चरणोकी ओर होनी चाहिए। आठवें अध्यायमें कहा गया कि भगवान्के चरणोमें एकाग्रता सतत रहे—हमारी वाणी, कान, आखें सतत उसीमें लगे रहें, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी तमाम इद्रियोको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए। "सब इंद्रियोको आदत पड गई—अब दूसरी भावना नही रही," ऐसा हो जाना चाहिए। सब इद्रियोको भगवान्की धुन लग जानी चाहिए। हमारे पास चाहे कोई विलाप कर रहा हो, या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरक्त सज्जनोका, सतोका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अधकार हो, मरण-कालमें परमेश्वर चित्तके सामने खड़ा रहेगा—इस तरहका अभ्यास जिदगीभर सब इद्रियोसे कराना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवें अध्यायमें दी गई है। छठे अध्यायमें एकाग्रता, सातवेंमें ईश्वराभिमुख एकाग्रता यानी 'प्रपत्ति', आठवेंमे सातत्ययोग, व नवेंमें समर्पणता दिखलाई है। दसवेंमें क्रमिकता बताई है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वरका रूप कैसे हृदयगम किया जाय, चीटीसे लेकर ब्रह्मदेवतकमें व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई। विश्व-रूप-दर्शनको ही मैं समग्रता-योग कहता हूं। विश्व-रूप दर्शनका अर्थ है—यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमें भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवेंतक भक्तिरसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छननी की गई है।

[६०]

अब बारहवें अध्यायमें भक्तितत्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने

समाप्ति-संबंधी प्रश्न पूछा। पांचवें अध्यायमें जीवन-संबंधी सर्व शास्त्रोंका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहां भी पूछा है। अर्जुन पूछता है कि भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं और कुछ निर्गुणकी उपासना करते हैं, तो अब बताओ कि इन दो में आपको कौन प्रिय है?

भगवान् इसका क्या उत्तर दें? किसी माके दो बच्चे हों व उससे उनके बारेमें प्रश्न पूछा जाय, वैसा ही यह है। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह माको बहुत प्यार करता हो, माको देखते ही आनंदित होता हो, और माके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो। वह मासे दूर जा ही नहीं सकता, उसे छोड नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन नहीं कर सकता। मा न हो तो उसे सारा संसार सूना। ऐसा यह छोटा बच्चा है। दूसरा बडा बेटा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेम-भावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। मासे दूर रह सकता है। पांच-छः मास भी मासे मुलाकात न हो तो भी वह रह सकता है। वह माकी सेवा करता है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमें लग जानेसे माका बिछोह सह सकता है। लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा है और चारों ओर उसका नाम सुनकर माको बडा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। इस तरहके दो लडकोंके बारेमें मासे प्रश्न पूछिए—"हे माता, इन दो लडकोंमें से सिर्फ एक ही लडका आपको दिया जायगा, आप जो चाहे पसंद करें?" तो वह क्या उत्तर देगी? किस लडकेको वह पसंद करेगी? क्या वह दोनों लडकोंको तराजूमें रखकर उनको तौलेगी? माताकी भूमिकापर गौर कीजिए। उनका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा? वह निरुपाय होकर कहेगी—"यदि बिछोह ही होना है तो बडे लडकेको ले जाओ। उसकी जुदाई मैं बर्दाश्त कर लूंगी।" छोटे लडकेको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नहीं हटने देगी। छोटे लडकेके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह इस तरहका कोई जवाब देगी कि "बडा दूर गया तो हर्ज नहीं।" परन्तु उसे अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह जवाब नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ जवाब देना ही था, इसलिए कुछ शब्द उसके मुंहसे निकल गये; परंतु उन

शब्दोमें पेटमें घुसकर यदि उनका अर्थ निकालने लगेंगे तो वह उचित न होगा।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस माको दुविधा होगी ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्‌के मनकी हो गई है। अर्जुन कहता है—"भगवन्, दो तरहके भक्त आपके है। एक आपके प्रति अत्यत प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आखें आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पाव आपकी सेवा-पूजाके लिए उत्कठित। दूसरा है स्वावलवी, इद्रियोको सतत वशमें रखनेवाला, सर्वभूत-हितमें मग्न, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामे ऐसा रत कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइए कि इन दोनोमें आपका प्रिय भक्त कौनसा है? अर्जुनका भगवानसे यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस माने जवाब दिया था, हूबहू उसी तरह भगवान्‌ने इसका उत्तर दिया है—"वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा—अद्वैती—भक्त भी मेरा ही है।" इस तरह भगवान् दुविधामे पड गये है—कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला।

और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरश दोनो भक्त एक-रूप है। दोनोकी योग्यता एक-सी है। उसकी तुलना करना मर्यादाका अतिक्रमण करना है। पाचवें अध्यायमें कर्मके विषयमें जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहा भक्तिके सबधमें पूछा है। पाचवें अध्यायमें कर्म व विकर्म की सहायतासे मनुष्य अकर्म दशाको प्राप्त होता है। वह अकर्मावस्था दो रूपोमें प्रकट होती है—एक तो यह कि रात-दिन कर्म करते रहते हुए भी लेश-मात्र भी कर्म नही करता, व दूसरा चौबीस घटेमें एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनिया-भरकी उखाड-पछाड करता है। इन दो रूपोमे अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय? किसी वर्तुलके एक पहलूसे दूसरे पहलूकी तुलना कीजिए—एक ही वर्तुलके दो पहलू—इनकी तुलना करें कैसे? दोनो पहलू एक-सी योग्यता—गुण रखते है—एक ही रूप है। अकर्म भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान्‌ने एकको सन्यास व दूसरेको योग कहा है। शब्द भले ही दो हो, पर अर्थ एक ही है। सन्यास व योग, दोनोका हल आखिर सरलता, सुगमताके आधारपर ही

किया है। सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है। एक सगुण भक्त, इंद्रियोंके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है। दूसरा, निर्गुण भक्त, मनसे विश्वके हितकी चिन्ता करता है। पहला बाहृय सेवामें मग्न दिखाई देता है, परतु भीतरसे उसका चितन सतत जारी ही है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखाई देता, परतु भीतरसे उसकी महासेवा चल ही रही है। इस प्रकारके इन दो भक्तोमें अब श्रेष्ठ कौनसा? रात-दिन कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला सगुण भक्त है। निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चितन, सबकी चिंता करता है। ये दोनो भक्त भीतरसे एकरूप ही है, अलबत्ते बाहरसे भिन्न दिखाई देते है। परतु दोनो है एकसे ही, दोनो भगवान्के प्यारे है। फिर भी इनमें सगुण भक्ति ज्यादा सुलभ है। इस तरह भगवानने जो उत्तर पाचवें अध्यायमें दिया, वही यहा भी दिया है।

[६१]

सगुण-भक्ति-योगमें प्रत्यक्ष इंद्रियोसे काम लिया जा सकता है। इन्द्रिया या तो साधन है, या विघ्न-रूप है, या दोनो है। वे मारक है या तारक—यह देखनेवालेकी दृष्टिपर अवलबित है। मान लो कि किसी-की मा मृत्यु-शैय्या पर पडी हुई है, व वह अपनी मासे मिलना चाहता है। रास्ता दूर—पद्रह मीलका है। उसपर मोटर नही जा सकती। टूटी-फूटी पगडडी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न? कोई कहेगा—"कहाका यह अभद्र मार्ग बीचमें आगया, नही तो मै कबका मासे जाकर मिल लेता!" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है। वह रास्तेको कोस रहा है; परतु माको देखनेके लिए उसे हर हालतमे जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समझकर वह वही नीचे बैठ जायगा तो फिर उस दुश्मन-से लगनेवाले रास्तेकी विजय हो जायगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहता है—"इस भारी जगलमे भी इतना रास्ता तो किसी तरह बना हुआ है ही। यही गनीमत है। किसी तरह मातक जा पहुचूगा। यह न होता तो इस दुर्गम पहाड परसे कैसे आगे

जा पाता ?" यह कहकर वह उस पगडंडीको एक साधन समझता हुआ तेजी-से आगे कदम बढाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमें स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अतर टालनेवाला कहिये या कम करनेवाला कहिये जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यकी अपनी-अपनी मनोभूमिका या दृष्टि जैसी कुछ हो, उसपर अवलवित है। यही बात इद्रियोकी है। वे विघ्न-रूप है या साधक है, यह आपकी अपनी दृष्टिपर अवलबित है।

सगुण उपासकके लिए इद्रिया एक साधन है। इंद्रिया मानो फूल है जिन्हे उसे परमात्माको चढाना है। आखोसे हरिका रूप देखें, कानोसे हरि-कथा सुनें, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पावसे तीर्थ-यात्रा करें, हाथोसे सेवा कार्य करें, इस तरह समस्त इद्रियोको वह परमेश्वरके अर्पण कर देता है। इद्रिया भोगके लिए नही रह जाती। फूल तो भगवान्पर चढानेके लिए होते है। फूलकी माला खुद अपने गलेमें डालनेके लिए नही होती। इसी तरह इद्रियोका उपयोग ईश्वरकी सेवामें किया जाय। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि ; परतु निर्गुणोपासकको इद्रिया विघ्न-रूप मालूम होती है। वह उन्हें सयममें रखता है। वद करके रखता है, उनका खाना वद कर देता है, उनपर पहरा बिठा देता है। परंतु सगुणोपासकको यह सब कुछ नही करना पड़ता। वह सब इद्रियोको हरिचरणोमें चढा देता है। ये दोनो विधिया इद्रिय-निग्रहकी ही है—इद्रिय-दमनके ही ये दोनो प्रकार है। आप किसी भी विधिको लेकर चलिए, परतु इद्रियोको अपने काबूमें रखिये। ध्येय दोनोका एक ही है—उन्हें विषयोमें न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी मुश्किल है।

निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली वात नही है। 'सारे विश्वका कल्याण करना' कहनेमें आसान है; पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिंता है वह उस चिंतनके सिवा दूसरा कुछ नही कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन कही गई है। सगुण उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोटे-से देहातको, जहा हमारा

जन्म हुआ, सेवा करना, अथवा मा-बापकी सेवा करना सगुण पूजा है। बस इसमें इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत्के हितकी विरोधक न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यो न हो, वह यदि दूसरोके हितमें बाधा न डालती हो तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमे पहुच जायगी, नही तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। हमारे मा-बाप हो, दुखी बन्धु-बान्धव हो, साधु-सत हो, इन्हे परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन प्रत्येकमें परमेश्वरकी मूर्त्तिकी कल्पना करके सतोष मानो। यह सगुण पूजा सुलभ है, परतु निर्गुण पूजा कही कठिन है। यो दोनोका अर्थ—सार एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, बस।

सुलभताके अलावा एक और मुद्दा भी है। निर्गुण उपासनामे भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमे आर्द्रता है। उसमें भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमें जरा खतरा है। एक समय ऐसा था जब ज्ञानपर मैं अधिक निर्भर था, परन्तु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नही चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है, परतु सूक्ष्म मैलको मिटाने-का सामर्थ्य उसमें नहीं है। स्वावलंबन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य—इन सभी साधनोको ले लीजिए, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नही मिट सकते। भक्ति-रूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नही धुल सकते। भक्ति-रूपी पानीमें ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो परावलम्बन कह दीजिए। परतु 'पर'का अर्थ 'दूसरा' न करके वह 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिए व उसका अवलबन—ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिए। परमात्माका सहारा लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नही होते।

कोई यह कहेंगे कि यहा 'ज्ञान' शब्दका अर्थ सकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नही धुल सकते तो, मैं इस आक्षेपको स्वीकार करता हू, कि फिर ज्ञानका दर्जा कम हो जाता है; परतु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमें रहते हुए होना कठिन है। इस देहमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, कुछ कम असल, विकृत ही रहेगा। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित

ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो गया तो उससे सारे मैल भस्म हो जायगे, इसमें मुझे तिल-मात्र संदेह नही है। चित्त-सहित सारे मलोको भस्म कर डालनेका सामर्थ्य ज्ञानमें है; परतु इस विकारवान् देहमें ज्ञान-का वल कम पडता है, इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मलोका मिटना शक्य नही है। अत भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मलोको निर्मूल नही किया जा सकता। इसीलिए भक्तिमे मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी तरफका समझ लीजिए। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमें परमेश्वरावलवन। निर्गुणमे स्वावलंबन है। इसमें 'स्व' का भी क्या अर्थ है? "अपने अतंस्थ परमात्माका आधार"—यही उस स्वाव-लवनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नही मिल सकता जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलवनसे, अर्थात् आतरिक आत्म-ज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। साराश, निर्गुण भक्तिके स्वावलंबनमें भी आत्माका ही आधार है।

[६२]

जैसे सगुण उपासनाके पक्षमें मैने सुलभता व सुरक्षितता-रूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमें भी मै डाल सकता हूं। निर्गुणमें एक मर्यादा रहती है। जैसे हम भिन्न-भिन्न कामोंके लिए, सेवाके लिए सस्था स्थापित करते हैं। सस्थाएं जो स्थापित होती है, सो पहले व्यक्तियोंके कारण; वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। सस्था पहले व्यक्ति-निष्ठ रहती है। परंतु जैसे-जैसे उसका विकास होता जायगा, वैसे-वैसे वह व्यक्ति-निष्ठ न रह कर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई तो उसे स्फूर्ति देनेवाले व्यक्तिके लोप होते ही उस सस्थामें अधेरा छा जाता है। मै अपना प्रिय उदाहरण दू। चरखेकी माल टूटते ही सूतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत भी लपेटना कठिन होता है। वैसी ही दशा उस व्यक्तिका आधार टूटते ही संस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्व-निष्ठा पैदा हो गई तो फिर ऐसा नही हो सकता। सगुणको निर्गुणकी मदद चाहिए। कमी-

न-कभी तो व्यक्तिसे—आकारसे—निकलकर वाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गगा हिमालयसे-शकरके जटाजूटसे निकली, परन्तु वही नही थम गई। उस जटाजूटसे निकलकर वह हिमालयकी गिरि-कदराओ, घाटियो, जंगलोको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल, छल-छल वहती हुई जव आई तभी वह विश्व-जनोके काम आ सकी। इस प्रकार संस्थाको व्यक्तिका आधार टूट जानेपर भी तत्वके मजबूत खभोपर खडा रहनेके लिए तैयार रहना चाहिए। जव मकानमें कमान वनाते है तो पहले उसे सहारा लगाते है, परतु वादमे उसे निकालना होता है। उस सहारेके निकाल डालनेपर जव कमान टिक रहती है, तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। इसी तरह पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुण में से चला तो ठीक, परतु अतमें उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामें, निर्गुणमें होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका उदय होना चाहिए। भक्ति-रूपी लतामें ज्ञानके फूल लगने चाहिए।

वुद्धदेवके ध्यानमें यह वात आ गई थी। इसलिए उन्होने तीन प्रकार-की निष्ठाएं वताई है। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो तो भी उसमेंसे तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो तो कम-से-कम सघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-पद्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमें अनवन होने लगेगी, झगडे-टटे शुरू हो जायगे। व्यक्ति-शरणता जाकर सघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धात-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए वुद्ध-धर्ममें तीन शरणता वताई गई है—

"वुद्धं शरणं गच्छामि। सघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।"

प्रथम व्यक्तिके प्रति, फिर सघके प्रति प्रीति , परतु ये दोनो निष्ठाए कमजोर ही है। अत. जव अतमें सिद्धात-निष्ठा उत्पन्न होगी, तभी सस्था टिकेगी और तभी लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमें सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादा सगुणको समतौल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

क्या हिंदू, क्या ईसाई व क्या इस्लाम इत्यादि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह निचले दर्जेकी मानी गई हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परतु जबतक मूर्ति-पूजा निर्गुणकी सीमामें रहती है, तभी तक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोष हो जाता है। सारे धर्मोके सगुण निर्गुण-रूपी मर्यादा-के अभावमें अवनतिको प्राप्त हो गये है। पहले यज्ञ-यागमे पशु-हत्या होती थी। आज भी शाक्त देवीको बलि चढाते है। यह मूर्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोडकर मूर्ति-पूजा गलत दिशामें चली गई। पर यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहे तो फिर यह अदेशा नही रहता।

[६३]

सगुण सुलभ व सुरक्षित है, परंतु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणकी बढती होकर उसमें निर्गुण-रूपी, तत्त्वनिष्ठा-रूपी फूलकी बहार आनी चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर-पूरक है, परस्पर-विरुद्ध नही। सगुणसे निर्गुणतककी मजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनोकी एक-दूसरेमे शोभा है। यह दोनो प्रकारकी भक्ति रामायणमें बडे उत्तम ढंगसे दिखाई गई है। अयोध्याकाडमें दोनो भक्तियोके प्रकार आ गये है। इन्ही दो भक्तियोका विस्तार रामायणमें है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी व लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण भक्ति व सगुण भक्तिका स्वरूप समझमे आ जायगा।

राम जब वनवासके लिए जाने लगे तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नही थे। रामको उन्हें साथ ले जानेकी कोई जरूरत नही मालूम होती थी। उन्होने लक्ष्मणसे कहा—"लक्ष्मण, मै वनको जा रहा हू। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घरपर रहो। मेरे साथ चलकर अपने दुखी माता-पिताको अधिक दुखी न बनाओ। माता-पिताकी व प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे तो मै निश्चिन्त रहूंगा। बतौर मेरे प्रतिनिधिके तुम रहो। मै वनमें जा रहा हूं, इसका

अर्थ यह नहीं कि किसी संकटमें पड़ रहा हू। बल्कि ऋषियोंके आश्रमोंमें जा रहा हू।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे, परन्तु लक्ष्मणने रामकी सारी बातें चटसे एक ही शब्दमें उड़ा दीं। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढ़िया चित्र खींचा है। लक्ष्मण कहते हैं—"आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बताई है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए; परन्तु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नहीं उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मैं तो बालक हू।"

"दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांई।
लागि अगम अपनी कदराई॥
नरवर धीर धरम-धुर-धारी।
निगम-नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥"

"हंस क्या मेरु मदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मै तो आज तक आपके प्रेमसे पोषित हुआ हू। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मैं तो अभी बालक हू।" यह कह लक्ष्मणने सारी बातें ही खतम कर दी।

मछली जिस तरह पानीसे जुदा नहीं रह सकती, वैसे ही लक्ष्मणका था। रामसे दूर रहनेका बल उसमें नहीं था। उसके रोम-रोममें सहानुभूति भरी थी। राम सो जाय, तब भी खुद जागता रहे, उनकी सेवा करे, इसीमें उसे आनद मालूम होता था। हमारी आखपर कोई ककर मारे तो जैसे फौरन हाथ उठकर आख पर आ जाता है व ककरकी मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। रामपर यदि प्रहार हो तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मणके लिए एक बढ़िया दृष्टांत दिया है। झडा ऊचा फहराता रहता है। गान-वदना सब झडेकी करते हैं। उसके रंग-आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परन्तु उस सीधे खड़े डडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका उड़ रही है, उसका दडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना

खडा रहता। झडेका डडा कभी झुक नही सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मण-रूपी डंडा कभी झुका नही। यश किसका? तो रामका! संसारको पताका दीखती है। डडेको कोई नही गिनता। शिखर दीखता है, नीव—पाया किसीको नही। रामका यश संसारमें फैल रहा है, परतु लक्ष्मणका कही पता नही। चौदह सालतक यह दंड सीधा ही तना रहा, जरा भी नही झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बडे-बडे दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको वनमें छोडनेका काम अतको लक्ष्मणको ही सौपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीताको पहुचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतत्र अस्तित्व ही नही रह गया था। रामकी आखें, रामके हाथ-पाव, रामका मन वह बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमें मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममें मिल गई थी। वह रामकी छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदासने खूब खीचा है। जब राम वनको गये तब भरत अयोध्यामें नही था। जब भरत आया तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वशिष्ठ उसे समझा रहे थे कि तुम राज करो। पर भरतने कहा—"मुझे रामसे मिलना है।" रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था; परंतु साथ ही राजका प्रबध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, उसका प्रबध करना रामका ही काम करना है। सारी संपत्ति मालिककी है, सिर्फ उसका इतजाम करना उसे अपना कर्त्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नही हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है—रामका काम करना चाहिए, नही तो वह भक्ति किस कामकी? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेंट करने वनमें आया है। "भैया, यह आपका राज्य है। आप—" इतना ज्योंही वह कहता है, त्योही राम उससे कहते है—"भरत, तुम्ही राज करो।" भरत संकोचसे खडा हो जाता है। वह कहता है—"आपकी आज्ञा सिर आखोपर।" राम जो कहें वह मंजूर। उसने अपना सब कुछ रामपर निछावर कर रक्खा था। वह जाकर राज-काज करने

लगा; परंतु उसमें भी तारीफ यह कि अयोध्यासे दो मील दूर तप करते हुए रहा। तपस्वी रहकर राज-काज चलाया। अंतको राम जब भरतसे मिले हैं, तब यह पहचानना मुश्किल हो जाता है कि इनमें वनमें रहकर तप करनेवाला वास्तविक तपस्वी कौन है। दोनोंके एकसे चेहरे, थोडा उम्रमें फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्या, दोनोंको देखकर पहचान नही पाते कि इनमें राम कौन व भरत कौन है ? यदि कोई चितेरा ऐसा चित्र निकाले तो वह कितना पावन चित्र होगा ? इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनमें वह क्षण भरके लिए भी दूर नही था। यद्यपि एक ओर वह राजकाज कर रहा था तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमें सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अत वहा वियोगकी भाषा मुहसे निकले ही कैसे ? इसलिए भरतको रामका वियोग नही मालूम था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

आजकलके युवक कहते है—"रामका नाम, रामकी भक्ति रामकी उपासना—ये सब हमारी समझमे नही आते। हम तो भगवान्‌का काम करेंगे।" तो भगवान्‌का काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्‌का काम करके भरतने वियोगको आत्मसात् किया है। भगवान्‌का काम करते हुए भगवान्‌के वियोगका अनुभव करने जितना भी समय न रहना एक बात है, व जिसका भगवान्‌से कुछ देना-लेना नही, उसका बोलना दूसरी बात है। भगवान्‌का कार्य करते हुए सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना, दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहा सगुणका आधार टूट नही गया था। "प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कुछ कहेंगे, उसमें मुझे सदेह न होगा," ऐसा कहकर भरत ज्योही लौटने लगा, तो फिर पीछे फिरकर रामकी ओर देखा, कहा—"भगवन्, मनको समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ-सा मालूम होता है।" रामने तुरत उसका भाव पहचान लिया और कहा—"यह पादुका ले जाओ।" अतको सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अतमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुका लेनेमे समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछ पीकर मिटाने जैसा हो गया होता।

भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें ही राम-भक्ति मानता था तो भी उसे पादुकाकी आवश्यकता महसूस हुई ही। उनके अभावमें वह राजकाज नही कर सकता था। उन पादुकाकी आज्ञाके रूपमें वह अपना कर्त्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण जैसा रामका भक्त था वैसा ही भरत भी था। दोनोकी भूमिकाए बाहरसे भिन्न-भिन्न थी। भरत यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुका-की आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

[६४]

हरिभक्ति-रूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे बार-बार कहा है—"मय्यासक्तमनाः पार्थ"—'अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख, मेरे रसका सहारा ले व फिर कर्म करता रह।' जिस भगवद-गीताको 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, रागद्वेष छोड़कर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो; 'अनासक्ति', 'नि सगता' जिसका ध्रुपद या पालु-पद है वही कहती है—"अर्जुन, मुझमें आसक्ति रखो।" पर यहा याद रखना चाहिए कि भगवान्में आसक्ति रखना बड़ी ऊंची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति नही है। सगुण व निर्गुण दोनों एक दूसरेमें उलझे हुए है। सगुण निर्गुणका आधार नि शेष नही कर सकता व निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्त्तव्य कर्म करता है, वह उस कर्म-रूपमें पूजा ही कर रहा है; परन्तु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। 'मामनुस्मर युद्धच च।' मेरा स्मरण रखके कर्म करो। कर्म खुद भी एक पूजा ही है; परन्तु मनमें भावना सजीव रहनी चाहिए। महज फूल चढा देना ही पूजा नही है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढाना, पूजाका एक प्रकार है; सत्कर्मों द्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है; परंतु दोनोमे भावना रूपी रस आवश्यक है। फूल चढा दिये, पर भावना मनमें नही है तो वे फूल मानो पत्थरपर ही चढे। अत. असली वस्तु भावना है। सगुण व निर्गुण, कर्म व प्रीति,

ज्ञान व भक्ति, ये सब चीजें एक-रूप ही है। दोनोका अतिम अनुभव एक ही है।

उद्धव व अर्जुनकी बात लो। रामायणसे मै एकदम महाभारतमें आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है, क्योकि राम व कृष्ण दोनो एक-रूप ही है। जैसे भरत व लक्ष्मण, वैसे उद्धव व अर्जुन है। जहा कृष्ण, वहा उद्धव मौजूद ही है। उद्धवको कृष्णका क्षण भरका वियोग सहन नही हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामे निमग्न रहता है। कृष्णके विना सारा ससार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्णका सखा था, परतु वह दूर दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था, परतु कृष्ण द्वारकामें तो अर्जुन हस्तिनापुरमे। ऐसा दोनोका सवध था। जब कृष्णको देह छोडनेकी आवश्यकता मालूम हुई तो उन्होने उद्धवसे कहा—"ऊवो, अब मै जा रहा हू।" उद्धवने कहा—"मुझे क्या अपने साथ नही ले चलेगे? हम दोनो साथ ही चलेंगे।" परतु कृष्णने कहा—"यह मुझे पसद नही। सूर्य अपना तेज अग्निमें रख जाता है, उसी तरह मै अपनी ज्योति तुझमें छोड जाता हू।" इस तरह भगवान्ने अत-कालीन व्यवस्था की व उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामें उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये; किन्तु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ मानो कुछ हुआ ही नही। "गुरु मरा तो चेला रोया—दोनोने वोध व्यर्थ खोया।" ऐसा हाल उनका नही था। मानो वियोग हुआ ही न हो। उसने सारे जीवन भर सगुण उपासना की थी। परमेश्वरके पास ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमें ही आनद होने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मजिल तय करनी पडी। सगुण पहले, परतु उसके वाद निर्गुणकी सीढी आनी ही चाहिए, नही तो परिपूर्णता न होगी।

इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था? अपने वाद सब स्त्रियोकी रक्षाका भार उन्होने अर्जुन पर सौपा था। अर्जुन दिल्लीसे आया व द्वारकासे श्रीकृष्णकी स्त्रियोको लेकर चला। रास्तेमे हिसारके पास पजावके चोरोने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय अकेला ही नर कहलाता था, उत्कृष्ट वीरके नामसे

प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था, व इसलिए 'जय' नामसे ही मशहूर हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शकरसे मुकावला किया और उन्हें झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते वचा। कृष्णके चले जानेका वडा असर उसके मनपर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया व केवल निस्त्राण व निष्प्राण शरीर ही वाकी रह गया। मतलव यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अतमें यह वियोग दु सह व भारी हो गया। उसके निर्गुणको अतमें वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो खतम हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। साराश, सगुणको निर्गुणमे जाना पडता है व निर्गुणको सगुणमे आना पडता है। इस तरह दोनोमे एक-दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

[६५]

इसलिए जव यह कहनेकी नौवत आती है कि सगुण-उपासक व निर्गुण-उपासकमे क्या भेद है, तो वाणीकी गति कुठित हो जाती है। सगुण व निर्गुण अंतमें एक हो जाते हैं। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे निकला हो तो भी अतमें वह निर्गुण तक जा पहुचता है। पुरानी बात है। मैं वायकमका सत्याग्रह देखने गया था। मलावारके किनारे शकराचार्यका जन्म-ग्राम है। यह भूगोलकी वात मैंने ध्यानमें रखी थी। जिधर होकर मै जा रहा था वही कही पासमे भगवान् शकराचार्यका 'कालडी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा व मैने साथके मलयाली व्यक्तिसे पूछा। उसने कहा—यहासे दस-वारह मील पर ही वह है। आप जाना चाहते है क्या ? मैंने इकार कर दिया। मै जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अतः मुझे और कही जाना उचित न जान पडा व उस समय उस गावको देखनेके लिए न गया। मुझे अव भी ऐसा लगता है कि ऐसा करके मैंने अच्छा ही किया है। परतु रातको जव मै सोने लगा तो वह कालडी गाव, शकराचार्यकी वह मूर्त्ति, मेरी आखोके सामने वार-वार आने लगती। मेरी नीद उड जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ज्यो-का-त्यो हो रहा है। शंकराचार्यका वह ज्ञानका प्रभाव, उनकी वह दिव्य

अद्वैत-निष्ठा, सामने फैले हुए ससारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक व ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गभीर भाषा व मुझपर हुए उनके अनत उपकार—इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगी। रातको ये सब भाव सामने खडे हो जाते। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह निर्गुणमें सगुण कैसे लबालब भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होनेमें भी उतना प्रेम नही होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष गहरा भरा हुआ है। मै प्राय अधिक कुशलपत्र वगैरा नही लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखने पर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमें उसकी स्मृति ठसाठस भरी रहती है। निर्गुणमें इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण व निर्गुण दोनो एक-रूप ही है। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, प्रकट रूपसे सेवा करना व भीतरसे, सतत ससारके कल्याणका चिंतन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया दिखाई न देना—इन दोनोका समान मूल्य व महत्त्व है।

[६६]

अतमे मुझे कहना यह है कि सगुण क्या, व निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नही है। एक दृष्टिसे जो सगुण है, वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण ठहर सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमें भगवान्‌की कल्पना कर लेते है। हमारी मातामें व संतोमें भी प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकटित हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर इनमें परमात्मा मानकर पूजा नही करते। ये चैतन्यमय लोक सबको दिखाई देते है। अत उनकी सेवा करनी चाहिए, उनमें सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए, परतु ऐसा न करके लोग पत्थरमे परमेश्वर देखते है। अब एक तरहसे पत्थरमें परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। सत, मा-बाप, पडौसी, इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकारबुद्धि व्यक्त हुई है। उनमें ईश्वर मानना तो सरल है, परतु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके ककरको हम शकर मानते है। यह क्या निर्गुण-पूजा नही है? बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमें परमेश्वरकी कल्पना न की जाय तो फिर कहा की जाय?

भगवान्‌की मूर्ति होनेके लायक वह पत्थर ही है। वह निर्विकार है, शात है। अधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसा-का-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकारी पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। मा-बाप, जनता, अडौसी-पडौसी ये सब विकारसे युक्त है। अर्थात् इनमे कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी बनिस्बत उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

मतलब यह कि सगुण निर्गुण परस्पर पूरक है। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है; परन्तु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है, व निर्गुण भी सरल है। दोनोके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पाचवें अध्यायमें जैसा बताया है, चौबीसो घटे कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला व चौबीसो घटे कुछ भी कर्म न करके सर्व-कर्म-कर्त्ता ऐसे योगी व सन्यासी दोनो एक रूप ही है, वैसे ही यहा भी है। सगुण कर्म-दशा व निर्गुण सन्यास-योग दोनो एक-रूप ही है। सन्यास श्रेष्ठ है या योग---इसका उत्तर देनेमें जैसे भगवान्‌को कठिनाई पडी, वैसे ही दिक्कत यहा भी हुई है। अतमें सुलभता व कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पडा है, नही तो क्या योग व क्या सन्यास, क्या सगुण व क्या निर्गुण, दोनो एकरूप ही है। अतमें भगवान् कहते है—"अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोल-मटोल पत्थर मत रहो।" यह कहकर अतमें भक्तके लक्षण बताये है। अमृत मधुर होगा, परन्तु हमें उसकी माधुरीको चखनेका अवसर नही मिला। किंतु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर है। इसमें कल्पनाकी जरूरत नही है। इन लक्षणोका हम अनुभव करे। बारहवें अध्यायके ये भक्त-लक्षण, स्थित-प्रज्ञके लक्षणोकी तरह, हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए व उन्हें थोडा-थोडा अपने जीवनमें लाकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमे अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, ८-५-३२

तेरहवां अध्याय

[६७]

व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्गीतामें डाल दिया है। उन्होंने विस्तार-पूर्वक दूसरा भी बहुत-कुछ लिखा है। अकेली महाभारत संहिता ही लाख-सवालाखकी है। संस्कृतमें व्यास-शब्दका अर्थ ही 'विस्तार' हो गया है। परन्तु भगवद्गीतामें उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नहीं है। भूमितिमें जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धांत बता दिये है, तत्त्व दिखला दिये है, उसी प्रकार जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामें व्यासदेव एकके बाद एक लिख रहे है। भगवदगीतामें न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बाते गीतामें कही गई है, उनको प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमे जाच-पडताल सकता है, बल्कि वे इसलिए कही गई है कि लोग उन्हे जाच-पड़ताल सकें। जितनी बाते जीवनके लिए उपयोगी है उतनी ही गीतामें कही गई है। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए उन्होंने थोडे में तत्त्व बताकर संतोष मान लिया है। उनकी इस संतोष-वृत्तिमें उनका सत्य तथा आत्मानुभव-संबधी महान् विश्वास हमें दिखाई दे जाता है। जो बात सत्य है उसके समर्थनके लिए अधिक युक्ति काममें लानेकी जरूरत नही रहती।

हम जो गीताकी तरफ दृष्टि लगाये रहते है उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमें हमें जब-जब कुछ सहायताकी सहारेकी आवश्यकता मालूम हो तब-तब वह गीतासे हमें मिलती रहे। और वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता एक जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्मपर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनका बडा पाया अगर कोई है तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणपर खडी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा, इमारत उतनी ही ज्यादा टिक सकेगी। इस स्वधर्माचरणको गीतामें 'कर्म' कहा है। इस स्वधर्मा-

चरण-रूप ,कर्मके इर्दगिर्द गीतामें बहुतेरी चीजें खडीकी गई है। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गए है। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुदर बनानेके लिए, उसे सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोकी और मददकी जरूरत है वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अबतक ऐसी बहुतेरी चीजें हमने देखी। उनमें बहुत-सी भक्तिके रूपमें थी। आज तेरहवें अध्यायमें जो चीज हमें देखनी है वह भी स्वधर्माचरणमे बहुत उपयोगी है। उसका संबध है विचार-पक्षसे।

गीतामे यह बात प्रधान-रूपसे सर्वत्र कही गई है कि स्वधर्माचरणीको फलका त्याग करना चाहिए। कर्म तो करें, पर उसका फल छोड दें। पेडको पानी पिलाओ, उसकी परवरिश करो; परतु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा मत रखो। यह स्वधर्माचरणरूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ महज इतना ही नही कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमें सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नही है; परतु स्वधर्माचरण रूप कर्म—कोरा कर्म नही—भलीभाति करके उसका फल छोड देना। यह बात कहनेमें, समझनेमें बडी सरल मालूम होती है, परतु पालनमें कठिन है; क्योकि किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही फल-वासना मानी गई है। फल-वासनाको छोडकर कर्म करना उलटा पथ है। व्यवहार या ससारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो कोई बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमें गीताका कर्मयोग है, ऐसा हम बहुत बार कहते है। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोग-मय है, ऐसा हम कहते है; परतु इस प्रयोगमे भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोग नही है, लाखो कर्म करनेवालोमें, केवल कर्म ही नही बल्कि स्वधर्माचरण-रूप कर्म करनेवाले लाखो लोगोमें भी गीताका कर्मयोग आचरनेवाला बिरला ही मिलेगा। कर्मयोगके सूक्ष्म व सच्चे अर्थमें देखा जाय तो ऐसा सपूर्ण कर्मयोगी शायद ही कही मिले। कर्म तो करना, परतु उसके फलको छोड देना बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामें यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है। 'कर्म करें और उसके फलको

आसक्ति छोड दें', इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है, 'देह व आत्मा' का। यही तेरहवें अध्यायमे उपस्थित किया गया है। आखोसे हम जिस रूपको देखते है, उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आखोको हो गया तो भी वस्तुके अतरगमें हमें प्रवेश करना पडता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पडता है। नारियलको भी फोडकर ही भीतरसे देखना पडता है। कटहलपर काटे लगे रहते है, तो भी भीतर बढिया व रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखें, चाहे दूसरोकी ओर, यह भीतर व बाहरका पृथक्करण करना आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुका भीतरी गूदा व बाहरी रूप इसका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह व भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममें भी यही बात है। बाहरी फल कर्मका देह है। और कर्मके बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है वह उस कर्मका आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फल-रूप देह छोडकर भीतरी चित्त-शुद्धि-रूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करें, हृदयमें समा लें। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्राही दृष्टि, हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आखोको, मनको, विचारोको ऐसी तालीम, आदत, अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमें देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। हमारे विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

[६८]

यह सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि बचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल ले तो कितना अच्छा हो! यह विषय हजम कर लेने जैसा—यह दृष्टि अगीकार करने जैसी है। बहुतोको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई सबध नही! कुछ लोगोका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई सबध हो भी तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके तो वह बडी खुशीकी बात होगी। यह शिक्षण-शास्त्रका विषय है। आज-

कल कुशिक्षणके फल-स्वरूप बडे-बुरे सस्कार बच्चोंके मनपर पड रहे है। 'मै केवल देहरूप हू', इससे बाहर यह शिक्षण हमें लाता ही नही। सब देहके ही चोचले चल रहे है; किंतु इसके बावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, जो स्वरूप देना चाहिए, वह तो कही दिखाई ही नही देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्मा के माधुर्यकी ओर ध्यान ही नही है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गई है। इस तरह देहकी मूर्ति-पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

बल्कि ठेठ बचपनसे ही हमें इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कही पावमें ठोकर लग गई तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतने भरसे काम निपट जाता है, या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत नही मालूम होती। थोडी-बहुत चोट-खुरचकी तो वह परवाह भी नही करेगा; परतु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नही चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर पुचकारकर कहेगा—"अच्छा, चोट लग गई! कैसे लगी, कहा लगी? अरे, सख्त चोट लगी मालूम होती है! अरे रे, खून निकल आया।" ऐसा कहकर वह, बच्चा न रोता हो तो उलटा उसे रुला देते है। न रोनेवाले बच्चेको रुलानेके इन लक्षणोके लिए अब क्या कहा जाय? उन्हें, कूद-फाद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पडोगे, चोट लग जायगी, आदि देहपर ही ध्यान देनेवाला एकागी शिक्षण दिया जाता है।

अच्छा, बच्चेका यदि लाड-प्यार भी करना हो तो वह भी उसके देह-पक्षको लेकर ही। उसकी निंदा भी देहपक्षको ही लेकर करते है। 'कैसा गदा है रे'—कहते है। इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है! कैसा मिथ्या आरोप है, यहा गदगी है यह सही है और उसे साफ करना चाहिए यह भी सही है; लेकिन इस गदगीको अनायास साफ न करके उस बच्चेपर कितना आघात किया जाता है? बच्चा उसे सहन नही कर सकता। वह बडा दु खी हो जाता है। उसके अतरगमें, आत्मामे स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गदे रहनेका यह कितना वृथा आरोप! वास्तवमे वह लडका गदा नही है; बल्कि जो अत्यत सुदर, मधुर, पवित्र, प्रिय, परमात्मा है, वही वह है। उसीका अंश उसमें विद्यमान है; परंतु उसे कहते है 'गदा।'

जब हम यह मानेंगे कि यह देह एक साधन-रूपमें मुझे मिला है। चरखे में यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया तो क्या मुझे गुस्सा आता है? बल्कि कोई कमी होती है तो मैं उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देहकी समझिए। जैसे खेतीके औजार, वैसे ही यह देह समझो। यह देह भगवान्‌के घरकी खेती करनेका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय तो उसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधनके रूपमें प्रस्तुत है। अतः इस देहसे अपनेको अलहदा रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देह रूपी साधनसे मैं जुदा हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेने वाला मैं हूं। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी भावना जाग्रत करनी चाहिए।

खेलसे अलग रहनेवाले त्रयस्थ या तटस्थ जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते हैं—"इधर ज़रा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है, इसका कोई उपाय बताइए न?" जब मनुष्य ऐसा कहता है, तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—"मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गई है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड़ गया है। किसीका लड़का खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई खुद नहीं खो जाता। अंतमें मरते समय भी उसका देह ही सब तरहसे नष्ट होता है, बेकार हो जाता है; पर वह खुद तो भीतरसे ज्योंका-त्यों रहता है। वह निर्दोष निरोगी रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाय तो इससे बहुतेरी झंझटों व उलझनोंसे छुटकारा हो जायगा।

[६९]

देह ही 'मैं' हूं, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फलस्वरूप मनुष्यने बिना विचारे ही देहपुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बड़ा भय मालूम होता है।

जब हम यह मानेंगे कि यह देह एक साधन-रूपमें मुझे मिला है। चरखे में यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया तो क्या मुझे गुस्सा आता है? बल्कि कोई कमी होती है तो मैं उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देहकी समझिए। जैसे खेतीके औजार, वैसे ही यह देह समझो। यह देह भगवान्के घरकी खेती करनेका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय तो उसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधन-के रूपमें प्रस्तुत है। अतः इस देहसे अपनेको अलहदा रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देह रूपी साधनसे मैं जुदा हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेने वाला मैं हूं। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी भावना जाग्रत करनी चाहिए।

खेलसे अलग रहनेवाले मध्यस्थ या तटस्थ जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते हैं—"इधर ज़रा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है, इसका कोई उपाय बताइए न?" जब मनुष्य ऐसा कहता है, तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—"मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गई है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड गया है। किसीका लडका खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई खुद नहीं खो जाता। अतमें मरते समय भी उसका देह ही सब तरहसे नष्ट होता है, बेकार हो जाता है; पर वह खुद तो भीतरसे ज्योंका-त्यों रहता है। वह निर्दोष निरोगी रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाय तो इससे बहुतेरी झंझटों व उलझनोंसे छुटकारा हो जायगा।

[६९]

देह ही 'मैं' हूं, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फलस्वरूप मनुष्यने बिना विचारे ही देहपुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बडा भय मालूम होता है।

मनुष्यकी यह धारणा सतत रहती है कि यह देह पुराना हो गया, जीर्ण-शीर्ण हो गया तो भी येन-केन प्रकारेण इसे टिका ही रखना चाहिए, परतु आखिर इस देहको, इस छिलकेको आप कबतक टिका सकेंगे ? मरनेतक ही। जब मौतका वारंट आ जायगा, तो क्षणभर भी देह कायम नही रख सकते। मौतके आगे सारा गर्व ठडा हो जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिंता करता है। अब कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मास खानेमे कोई हर्ज नही है, मानो मनुष्यका देह बडा ही कीमती है जो उसे बचानेके लिए मास खावें। पशुकी देह कीमतमें कम है। सो क्यो ? मनुष्य-देह क्यो कीमती हुआ ? क्या कारण है ? अरे, पशु चाहे जो खा सकते है, सिवा स्वार्थके उन्हे दूसरा कोई विचार ही नही आता ! मनुष्यकी बात ऐसी नहीं। मनुष्य अपने आस-पासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अत. मनुष्य-देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है; परतु जिस कारणसे मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई, उसीको हम मास खाकर नष्ट कर देते है। भले आदमी, तुम्हारा बडप्पन तो इसी बातपर अवलबित है न, कि तुम सयमसे रहते हो, दूसरे जीवोकी रक्षा-भलाईके लिए उद्योग करते हो, अपनी सार-सभाल रखनेकी भावना तुममें है ? पशुसे भिन्न जो कुछ यह विशेषता तुममें है, उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है ? इसीसे मानव-देहको दुर्लभ कहा गया है, परतु जिस आधारपर मनुष्य बडा—श्रेष्ठ हुआ है, उसीको यदि वह उखाडने लगा, तो फिर उसके बडप्पनकी इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु, जो अन्य प्राणियोके मास खाकर जीवित रहते है, वही क्रिया यदि मनुष्य नि सकोच करने लगे, तो फिर उसके बडप्पनका आधार ही खीच लेने जैसा होगा। यह तो वैसा ही है, जैसा कि जिस डालपर मै बैठा हू, उसीको काटनेका प्रयत्न करना।

आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुको टोचकर उसके शरीरमें—उस जीवित पशुके शरीरमें—रोग-जतु उत्पन्न करते है व देखते है कि उन रोगोका उसपर क्या-क्या असर हुआ ! सजीव पशुको इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग किया जाता है इस क्षुद्र मानव देहको बचानेके लिए ! और यह सब

चलता है भूत-दयाके नामपर। पशुके शरीरमें जंतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्यके शरीरमें टोचते हैं! ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते हैं, वह तो एक कच्चे कांचकी तरह है, जो पलभरमें ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नही किया जा सकता। यद्यपि मनुष्यके देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे है, फिर भी अतमे अनुभव क्या आता है? ज्यो-ज्यो इस नाजुक देहको सभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यो-त्यो उसका नाश अधिकाधिक होता जाता है। यह प्रतीति हमें होती रही है, फिर भी इस देहको मोटा-ताजा करनेका, इसकी महिमा बढानेका, प्रयत्न जारी ही है।

हमारा ध्यान कभी इस बातकी तरफ नही जाता कि किस प्रकारका आहार करके बुद्धि सात्विक होगी। मनुष्य इस बातको बिलकुल ही नही देख रहा है कि मनको अच्छा बनानेके लिए, बुद्धिको निर्मल रखनेके लिए क्या करना चाहिए, किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढेगा। वह इसीकी चिंता करता दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीरपर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके लौंदे उसके शरीरपर कैसे थुप जाय। पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कडा सूखनेपर फिर नीचे गिर पडता है, उसी तरह शरीरपर चढाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अतको गल जाती है व शरीर फिर अपनी असली स्थितिमें आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या, जो हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढा लें, इतना वजन बढा लें, कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके? शरीरको इतना अनाप-शनाप मोटा बनाया ही क्यो जाय? हा, यह शरीर हमारा एक साधन है, अत उसे ठीक रखनेके लिए जो-कुछ आवश्यक है, वह सब मुझे करना चाहिए। यत्रसे काम लेना चाहिए। कोई 'यत्राभिमान' जैसा भी कही हो सकता है? फिर इस शरीर-रूपी यत्रके सबधमें भी हम इसी तरह विचार क्यो न करे?

साराश, यह देह साध्य नही, बल्कि एक साधन है। यदि यह भाव हमारा दृढ हो जाय तो फिर शरीरका जो इतना तूमार बाधा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमको और ही तरहसे दीखने लगेगा। फिर इस

देहको सजानेमें हमें गौरव अनुभव न होगा। सच पूछिये तो इस देहके लिए एक सादा कपड़ा हो तो काफी है। पर नहीं, हम चाहते हैं, वह नरम, मुलायम हो। उसका बढ़िया रंग हो, सुंदर छपाई हो, अच्छे किनारे—बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो, आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत कराते हैं। यह सब क्यों? उस भगवान्‌को क्या अक्ल नहीं थी? यदि इस देहके लिए सुंदर बेल-बूटों व नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे शेरके शरीरपर उसने अपनी कारीगरीकी करामात दिखाई है, वैसे क्या तुम्हारे हमारे शरीरपर नहीं दिखा देता? उसके लिए क्या यह असंभव था? मोरकी तरह सुंदर पूंछ हमें भी लगा दे सकता था; परंतु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रंग दिया है। जरा उसमें दाग पड़ जाता है तो उलटा उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है वैसा ही सुंदर है। परमेश्वर का यह उद्देश्य ही नहीं है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय सृष्टिमें क्या सामान्य सौंदर्य है? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आंखोंसे इसको निहारता रहे; परंतु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं, जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रंग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रंगका शौक लगा। उसीकी बदौलत तुम परावलंबी हो गये। बिला वजह ही तुम इस शरीर शृंगारके चक्करमें पड़ गये। मनको सिंगारना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुंदर बनाना तो एक तरफ ही रह गया।

[७०]

इसलिए भगवान्‌ने इस तेरहवें अध्यायमें जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं, आत्मा है।' "तत् त्वमसि—वह आत्म-रूप तू ही है।" यह बड़ा उच्च, पवित्र उद्‌गार है, पावन व उदात्त उच्चार है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान् विचार समाविष्ट किया गया है—"यह ऊपरका कवच, छिलका, ढांचा, तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल—गूदा—तू है।" जिस क्षण मनुष्यके हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूं' यह भाव मनमें जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमें एक अननुभूत आनंद लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटानेका—नष्ट कर डालनेका

सामर्थ्य संसारकी किसी वस्तुमें नही। किसीमें भी ऐसी शक्ति नही है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गारमें समाया हुआ है।

इस देहसे परे अविनाशी व निष्कलक जो आत्म-तत्त्व है, सो मै हू। उस आत्मतत्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरी तत्त्वके दूषित हो जानेकी सभावना होगी, तव-तव मै उसको वचानेके लिए इस देहको फेक दूगा। परमेश्वरी तत्त्वको उज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मै सदा तैयार रहूगा। मैं जो इस देहपर सवार होकर आया हू, सो क्या इसलिए कि अपनी फजीहत कराऊ? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मै इस देहका इस्तेमाल करूंगा व उसके द्वारा हित-मगलकी वृद्धि करुगा। 'भरूगा आनद त्रिलोकमें।' इस देहको मैं महान् तत्त्वोंके लिए फेंक दूगा व ईश्वरका जय-जयकार करूगा। रईस आदमी एक कपडेके मैंले होते ही उसे फेंक देता है व दूसरा पहन लेता है, वैसे ही मै भी करूगा। कामके लिए इस देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक न रह जायगा, उस समय उसे फेंक देनेमें मुझे क्या पसोपेश हो सकता है?

सत्याग्रहके द्वारा हमे यही शिक्षण मिलता है। देह व आत्मा, ये अलग-अलग चीजें है। जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी वास्तविक विकासकी शुरुआत होगी। उसी समय हमें सत्याग्रह सधेगा। अत. यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक इस भावनाको अपने हृदयमें अकित कर ले। देह तो निमित्त-मात्र—साधन है, परमेश्वरका दिया एक औजार है। जिस दिन उसकी जरूरत खतम हो जायगी, उसी दिन इसे फेक देना है। सर्दीके गरम कपडे हम गर्मियोमें फेंक देते है, रातको ओढे हुए कवल सुवह हटा देते है, सुवहके कपडे दोपहरको छोड देते है, उसी तरह इस देहको समझो। जवतक देहका काम है, तवतक उसे रखेंगे, जिस दिन इससे काम न मिलेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपडा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमें वता रहे है।

[७१]

जवतक हम यह न समझ लेंगे कि देहसे मै अलग हू तवतक जालिम

लोग हमपर जरूर जुल्म ढाते रहेंगे, हमें बंदा—गुलाम बनाते रहेंगे, हमको न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेंगे। जुल्म भयके कारण ही शक्य हो सकता है। एक राक्षसने एक आदमीको पकड लिया था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम नहीं करता तो राक्षस कहता—"खा जाऊंगा, तुझे खतम कर दूंगा।", शुरूमें तो वह मनुष्य डरता रहता, परंतु जब वह धमकी असह्य हो गई तो उसनें कहा—"ले खा डाल, खाना हो तो खा जा।" पर राक्षस उसे खा जानेवाला थोडे ही था। उसे तो एक बन्दा—गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था; परतु ज्योंही यह जवाब मिला कि 'ले खा जा' तो उसका जुल्म बन्द हो गया। जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनके देहको जहां कष्ट पहुंचा नहीं कि ये गुलाम होकर दबकर बैठ जायगे। परंतु जहां आपने देहकी आसक्ति छोड दी कि तुरन्त सम्राट हो जायगे, स्वतन्त्र हो जायगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायगा। कोई भी आपपर हुक्म नहीं चला सकता। फिर जुल्म करने का आधार ही टूट जाता है। उसकी बुनियाद ही इस भावनापर है कि 'देह मैं हू।' वे समझते है कि इनके देहको सताया नहीं कि ये बसमें हुए नहीं, इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते है!

'मैं देह हूँ'—मेरी इस भावनाके कारण ही दूसरोको मुझपर जुल्म करनेकी सतानेकी इच्छा होती है। परतु इग्लैण्डके हुतात्मा—बलिवीर क्रेन्मर—ने क्या कहा था—"मुझे जलाते हो! अच्छा, जला डालो। लो पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।" इसी तरह रिड्ले और लैटिमरने क्या कहा था—"हमें जलाना चाहते हो? हमें कौन जला सकता है? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीर-रूपी इस मोमबत्तीको, इस चरबीको, जलाकर सत्तत्वोकी ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायगा, वह तो मिटने ही वाला है।" सुकरातको जहर देकर मारनेकी सजा दी गई। तब उसने कहा—"मैं अब बूढा हो गया हू। चार दिनके बाद देह छूटने ही वाला था। जो मरने ही वाला था, उसे मारकर आप लोग कौन सी बहादुरी कर रहे है?

जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य है उसे मारनेमें कौनसी तारीफ है ?" जिस दिन सुकरातको जहर दिया जानेवाला था, उसके पहली रात वह शिष्योको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमें विषका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाए होगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था। उसे कुछ भी फिक्र नही मालूम होती थी। आत्माकी अमरता-सबधी यह चर्चा खतम होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—"मरनेपर आपकी अत्येष्टि क्रिया कैसे की जाय ?" उसने जवाब दिया—"खूब, मारेंगे तो वे व गाडोगे तुम! तो क्या वे मारने वाले मेरे दुश्मन, और तुम गाडनेवाले मुझे बहुत चाहनेवाले हो ? वे अक्लमंदीसे मुझे मारेंगे व तुम समझदारीसे मुझे गाडोगे ? तुम कौन हो मुझे गाडनेवाले ? मै तुम सबको पूरा पडनेवाला हू। तुम किसमे मुझे गाडोगे ? मिट्टीमें या नासमें ? मुझे न कोई मार सकता है न कोई गाड ही सकता है। अब तक मैंने क्या समझाया तुम लोगोको ? आत्मा अमर है, उसे कौन तो मार सकता है व कौन गाड सकता है ?" और सच-मुच आज दो-ढाई हजार वर्षोसे वह महान् सुकरात सबको गाडकर बचा है!

[७२]

साराश जबतक देहकी आसक्ति है, भय है, तबतक वास्तविक रक्षा नही हो सकती। तबतक एकसा डर लगता रहेगा। जरा नीद लगी नही कि यह खटका रहेगा, कही साप तो आकर न काट खाय, चोर तो आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डडा लेकर सोता है। क्यो ? तो कहता है—"साथ रखना अच्छा है, कही चोर-वोर आ जाय तो।" अरे भले आदमी! कही चोर वही डडा उठाकर तुम्हारे सिरपर मार दे तो ? चोर यदि डडा लाना भूल गया हो तो तुम उसके लिए पहले ही से तैयारी कर रखते हो। तुम किसके भरोसे पर सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमें रहते हो। तुम जग रहे होगे तो ही बचाव करोगे न ? नीदमें तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

मै किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास करके सोता हू। जिस शक्ति पर भरोसा रखकर शेर, गाय, आदि जानवर सोते है, उसीके भरोसे मै

भी सोता हू। शेरको भी तो नींद आती है। सिंह भी, जो सारी दुनियासे वैर होनेके कारण हर घड़ी पीछे देखता है, वह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न हो तो कुछ सिंह सोते व कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती। जिस शक्तिपर विश्वास रखकर शेर, भेड़िया, सिंह आदि क्रूर जीव भी सोते है, उसी विश्व-व्यापक शक्तिकी गोदमें मैं भी सो रहा हू। माकी गोदमें बच्चा बेफिक्रीसे सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह ही होता है। हमें चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वंभर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास व ज्ञान-पूर्वक सोनेका अभ्यास करें। जिस शक्तिके आधार पर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। वह शक्ति मुझे उत्तरोत्तर प्रतीत होनी चाहिए। इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा, वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवे अध्यायमें उसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

[७३]

जबतक देहस्थित आत्माका विचार मनमें नहीं आता है, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओंमे ही तल्लीन रहता है। भूख लगे तो खा लिया, प्यास मालूम हुई तो पानी पी लिया, नींद आई तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता। इन्हीं बातोंके लिए वह लड़ेगा, इन्हींकी प्राप्ति का लोभ मनमें रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओंमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरंभ तो इसके बादसे होता है। इस समय तक आत्मा सिर्फ देखता रहता है। मा जिस तरह कुएकी ओर रेंगते हुए जाने वाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा इसपर निगाह रखे खड़ा रहता है। शांतिके साथ वह सब क्रियाओंको देखता है। इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'—साक्षी रूपसे सब देखनेवाला कहा है।

इस अवस्थामें आत्मा देखता है, परंतु अभी वह सम्मति, स्वीकृति नहीं देता है। परंतु यह जीव, जो अबतक अपनेको देह-रूप समझकर

सब क्रिया, सब व्यवहार करता है, वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मैं पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूं। जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब कदम-कदमपर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियाए रुकती है। स्वच्छदताकी जगह सयम आता है। जब जीव इस नैतिक भूमिकामे आता है तब आत्मा केवल स्वस्थ रहकर नहीं देखता, वह भीतरसे अनुमोदन देता है—'शाबास', 'खूब', ऐसी आवाज अदरसे आती है। अब वह केवल 'उपद्रष्टा' न रहा, 'अनुमन्ता' हो गया।

कोई भूखा अतिथि दरवाजे आ जाय व आप अपनी परोसी थाली उसे दे दे, व फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिए मनको कितना आनद होता है। भीतरसे आत्माकी हलकी गुजार कानोमे होती है—'अच्छा काम किया।' मा जब बच्चेकी पीठपर हाथ फिराकर कहती है, 'अच्छा किया बेटा', तो उसे ऐसा मालूम होता है, मानो दुनियाकी सारी बख्शिश मुझे मिल गई। उसी तरह हमारे हृदयस्थ परमात्मा के 'शाबाश बेटा' ये शब्द हमे प्रोत्साहन देते है। ऐसे समय जीव भोगमय जीवनको छोडकर नैतिक जीवनकी भूमिकामें स्थित होता है।

इसके बादकी भूमिका यह है—नैतिक जीवनमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मके द्वारा अपने मनके तमाम मलोको धोनेका यत्न करता है, परतु एक समय ऐसा आता है, जब मनुष्य ऐसा काम करते-करते थकने लगता है। तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है—'हे भगवन्, मेरे उद्योगोकी, मेरी शक्तिकी अब हद आ गई, मुझे अधिक बल दे। जबतक मनुष्यको यह अनुभव नही होता कि उसके तमाम प्रयत्नोके बावजूद वह अकेला कामयाब नही हो सकता, तबतक प्रार्थनाका रहस्य उसकी समझमें नहीं आ सकता। अपनी सारी शक्ति लगाकर, जब वह काफी नही मालूम होती तब, आर्त्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरकी कृपा व सहायता का स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमें से

पानी पी सकता है । जिसे कमी पड़ती हो, वह मांग ले । इस तरहका रिश्ता इस तीसरी भूमिकामें होता है । परमात्मा अधिक नजदीक आता है । अब वह केवल शाब्दिक शाबासी न देते हुए सहायता करनेके लिए आता है ।

पहले परमेश्वर दूर खड़ा था । गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है, उसी तरह जबतक जीव भोगमय जीवनमें लिप्त रहता है, तबतक परमात्मा दूर खड़ा रहता है; वह कहता है—"ठीक है, चलने दो अपने कवाड़े ।" फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है । तब परमात्मा कोरा तटस्थ नहीं रह सकता । जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झांकता है और कहता है—'शाबास ।' इस तरह सत्कर्म होते होते जब चित्तके स्थूल मल धुल जाते हैं और सूक्ष्म मल धुलनेका समय आता है, और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं, तब परमात्माको पुकारता है और वह 'आया' कह कर दौड़ आता है । भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहां आ खड़ा हो जाता है । जगका सेवक सूर्यनारायण आपके दरवाजेपर सदैव खड़ा ही है । सूर्य बंद दरवाजेको तोड़कर भीतर नहीं घुसेगा; क्योंकि वह सेवक है । वह स्वामीकी मर्यादा पालता है । वह दरवाजेपर धक्का नहीं देगा । भीतर मालिक सोया हुआ हो तो भी वह सूर्य-रूपी सेवक दरवाजेके बाहर रहता है । जरा दरवाजा खोलिए कि वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर अंदर घुस आता है और अंधेरा दूर कर देता है । परमात्माकी स्थिति भी ऐसी ही समझो । उससे मदद मांगिए तो वह बाहु फैलाकर आया ही समझो । भीमाके किनारे (पंढरपुरमें) कमरपर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है ।

उठाके लो भुजा, कहे प्रभु आजा ।।

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है । नाक खोलो कि हवा भीतर आई ही । दरवाजा खोलो कि प्रकाश भीतर आया ही । हवा और प्रकाशके दृष्टांत भी मुझे ना-काफी मालूम होते हैं । उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक सन्निध, अधिक उत्सुक है । वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहते हुए 'भर्त्ता'—सब तरह सहायक होता है । मनकी मलिनता मिटानेके लिए

अगतिक होकर जब हम पुकारते हैं—'मारी नाड तमारे हाथे प्रभु संभाळ जो रे'। हम प्रार्थना करते हैं—'तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार हैं।' तब फिर वह दयाघन कैसे दूर रहेगा ? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान् अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड पडता है। तब रैदासके चमडे धोता है, सजन कसाईका मांस बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है, व जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

इसके बादकी सीढी है परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिला, उसे भी खुद न लेकर उसीके अर्पण कर देना। इस भूमिकामें जीव परमेश्वरसे कहता है—"अपना फल आप ही भोगो।" नामदेव धरना देकर बैठ गया कि "प्रभु, दूध पीना ही पड़ेगा;" कितना मधुर प्रसग है। वह सारा कर्मफलरूपी दूध नामदेव भगवान्के अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूजी, सारी कमाई, जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई उसीको वह अर्पण कर देता है। धर्मराज ज्योंही स्वर्गमें कदम रखनेवाले थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नही जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवनका पुण्य-फल—स्वर्ग—एक क्षणमें छोड दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ परमात्माके अर्पण कर देता है। 'उपद्रष्टा,' 'अनुमता' 'भर्त्ता'—इन स्वरूपोंमे प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब 'भोक्ता' हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामे आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीरमें भोगोको भोगता है।

इसके बाद अब सकल्प ही करना छोड देना है। कर्ममे तीन सीढिया आती है। पहले हम सकल्प करते हैं, फिर कार्य करते है और बादको फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीके अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर। अब उस कर्मका सकल्प करनेवाला भी परमेश्वर हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अतमें सर्वत्र प्रभु ही हो जाने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माली जिधर ले गया। उधर चुपचाप गया॥
यों पानी जैसा भैय्या। होओ सदा॥

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है उधर ही वह बिना ची-चपड किये चला जाता है। माली जिन फूल और फलके पौधोको चाहता है, उन्हे वह पानी पोसता और बढाता है, इसी तरह मेरे हाथो जो कुछ होना है वह उसीको तय करने दो। मेरे चित्तके सभी सकल्पोकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोडेपर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझा मैं अपने ही सिरपर क्यो लादकर बैठू ? वह भी घोडे की पीठपर ही क्यो न लाद दू ? अपने सिरपर बोझ रखकर भी यदि मै घोडेपर बैठूगा तो भी बोझ घोडेपर ही पडेगा, फिर सारा ही बोझ उसकी पीठपर क्यो न लाद दू ? इस तरह जीवनकी तमाम हलचलें, उठा-पटक, फलना-फलाना, सब वह परमात्मा ही अतमे हो जाता है। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही हो जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वर मय हो जाता है, सिर्फ देहका पर्दा ही बाकी बच रहता है। वह जब हट जाता है, तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा, एक ही हो जाते हैं।

इस प्रकार—

"उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।"

इस स्वरूपमें हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरंभ होने पर हमसे सत्कर्म होने लगते है, तब वह हमें शाबासी देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है, तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड पडता है। उसके बाद फलको भी भगवान्के अर्पण करके उसे 'भोक्ता' बना देना और अतमें तमाम संकल्प उसीके अर्पण करके सारा जीवन हरिमय कर देना है। यही मानवका अतिम साध्य है। 'कर्मयोग' व 'भक्ति-योग' रूपी दोनो पखोंसे उडते हुए साधकको इस अंतिम मजिलतक जा पहुचना है।

[७४]

इस सबको साधनाके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद आवश्यक है। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए।

सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए । सीपको छोड़कर मोती ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार जीवनकी शुरुआत करना है । फिर आत्म-प्रयत्न व परमेश्वरी कृपाके बलपर ऊपर चढते जाना है । इस सारी साधनामें यदि हमने देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लिया होगा तो हमे बडी मदद मिलेगी । ऐसे समय मुझे हजरत ईसाका वलिदान याद आ जाता है । उन्हे कीलें ठोक-ठोककर मार रहे थे । कहते है, उस समय उनके मुहसे ये उद्‌गार निकले—"भगवन्, इतनी यातनायें क्यो देते है ?" किंतु फौरन भगवान् ईसाने अपने मनका तोल संभाला व कहा—"अच्छा, जो तेरी मर्जी, तेरी ही इच्छा पूर्ण होने दे । इन लोगोको क्षमा कर—ये नही जानते कि ये क्या कर रहे है ।" हजरत ईसाके उस उदाहरणमें वड़ा रहस्य भरा हुआ है । देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह चिह्न है । कहातक मजिल तय करना चाहिए, कहातक वह तय की जा सकती है, यह ईसा-मसीहके जीवनसे मालूम हो जाता है । देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रहा है—यहातक मजिल आ पहुंची है । जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तव ईसा-मसीहका यह जीवन यह दृश्य मेरी आखोंके सामने आ जाता है । देहसे अपनी साफ पृथक्ता-का, उसका संबध टूटने जैसा हो जानेका नमूना ईसा-मसीहका जीवन है ।

देह व आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नही है, जबतक सत्य-असत्यका विवेक न किया जाय । यह विवेक, यह ज्ञान हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जाना चाहिए । ज्ञानका अर्थ हम करते है 'जानना', परंतु बुद्धिसे जानना ज्ञान नही है । मुहमें कौर डाल लेना भोजन कर लेना नही है । मुहका कौर चबाकर गलेमें जाना चाहिए व वहासे पेटमें जाकर पचन होकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमें पहुचकर पुष्टि मिलनी चाहिए । तभी वह सच्चा भोजन होगा । उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नही चल सकता । वह जानकारी, वह ज्ञान, सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें सचारित होना चाहिए । हमारे हाथ, पाव, आख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए । ऐसी स्थिति हो जानी

चाहिए कि सारी ज्ञानेन्द्रिया व कर्मेन्द्रिया विचार-पूर्वक ही सब कर्म कर रही हैं। इसलिए इस तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानकी बहुत बढिया व्याख्या की है। स्थित-प्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके ये लक्षण है।

'नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा'

आदि बीस गुण भगवान्ने बताये हैं। वे केवल यह कहकर नही रुके कि इन गुणोको ज्ञान कहते हैं, बल्कि यह भी साफ तौरपर बताया गया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बताई उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्गुणको ही मै ज्ञान मानता हू। साधना व साध्य दोनो एक-रूप ही है।

गीताके इन बीस साधनोको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिया है। उन्होंने इनका वर्णन बडी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे सबध रखनेवाले केवल पाच ही श्लोक भगवद्गीतामें है; परतु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमें इनपर सातसौ ओविया (एक छद) लिखी है। वे इस बातके लिए बहुत तृषित थे कि समाजमें सद्गुणोका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोका वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियोमें उडेल दिया है। मराठी भाषाके पाठकोपर उनका यह अनत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैसेको जो चाबुक लगाया गया उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठपर उठ आया। भूत-मात्रके प्रति इतनी समवेदना उनमें थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे 'ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोका उन्होंने विवेचन किया। उन्होंने जो गुण वर्णन किया है वह पढने योग्य है, मनन करने व हृदयमें अकित कर लेने योग्य है। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मैं चख सका— इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हू। उनकी मधुर भाषा मेरे मुहमें आकर बैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े तो मैं धन्यता ही अनुभव करूगा। अस्तु। सार यह कि—

उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए आत्माको देहसे पृथक् समझते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वर-मय बनानेका यत्न करें।

रविवार, १५-५-३२

चौदहवां अध्याय

७५

भाइयो, आजका चौदहवां अध्याय एक अर्थमें पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता नही है। वह स्वयपूर्ण है। अपनी आत्माकी गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है; परंतु जैसे किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बाध दिया जाता है तो जैसे वह नीचे खिचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह वोझ आत्मा-को नीचे खीच ले जाता है। पिछले अध्यायमें हमनें यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल भी महान् निकलेगा। आत्माके पावकी यह देह-रूपी बेडी यदि हम काट सकें तो हम बड़े आनदका अनुभव करेंगे। फिर मनुष्य देहके दु खसे दुःखी न होगा। वह स्वतन्त्र हो जायगा। यदि इस देह-रूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले तो फिर संसार-में कौन उसपर सत्ता चला सकता है ? जो अपनेपर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट् हो जाता है। अत. देहकी जो सत्ता आत्मापर हो गई है, उसे हटा दो। देहके ये जो दु.ख-सु:ख हैं सब विदेशी है, सब विजातीय हैं। आत्मासे उनका तिल-मात्र भी संबंध नही है।

इन सब दु:खोको किस अंशतक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैंने भगवान् ईसाके उदाहरण द्वारा बताई है। उन्होंने दिखा दिया है कि देहके टूट पडते हुए भी किस तरह मनको शात और आनंदमय रखा जा सकता है; परंतु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहां एक ओर विवेकका काम है, तहां दूसरी ओर निग्रहका भी काम है।

"विवेकके साथे वैराग्यका बल।"

ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य दोनोंकी जरूरत है।

वैराग्य ही एक प्रकारका निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवें अध्यायमें निग्रह की दिशा बताई गई है। नावको खेनेका काम तो वल्लिया करती है, परतु दिशा दिखानेका काम पतवार करता है। वल्लिया और पतवार, दोनो चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दुखोंसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह, दोनोकी आवश्यकता है।

वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवान्ने चौदहवें अध्यायमें तमाम प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारिया हैं, सो बताया है। इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गए हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजनका एक बडा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमें यदि विभाजन-भेद किये जा सकें तो वह जल्दी पराजित किया जा सकता है। भगवान्ने यहा ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवोकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमें कफ, पित्त, वात है, उसी तरह यहा सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृतिमें भरे हुए हैं। सब जगह इन्ही तीन गुणोंका मसाला भरा हुआ है। कही कम है तो कही ज्यादा। इतना ही फर्क है। जब इन तीनोंसे आत्माको अलग करेंगे, तब देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलहदा करनेका तरीका ही है इन तीनों गुणोंकी परीक्षा करके उन्हें जीत लेना। निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अतको मुख्य वस्तुतक जा पहुचना है।

[७६]

पहले हम तमोगुणको लें। वर्तमान समाज-स्थितिमें हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते हैं। इसका मुख्य परिणाम है आलस्य। इसीसे फिर नींद व प्रमादका जन्म होता है। इन तीन बातोको जीत लिया तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो। इनमें आलस्य तो बडा ही भयकर है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी इस आलस्यसे बेकार हो जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शातिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है। यह छोटेसे बडेतक सबको बिगाड देता है। इस शत्रुने सबको

ग्रसित कर रखा है। वह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा ही। जरा खाना ज्यादा खाया कि उसने लेटनेपर मजबूर किया। जहां जरा ज्यादा लेटे कि मानो आखोसे आलस टपकता है; जबतक इसे न पछाड़ा तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ है। मगर हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते है। इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर लें तो फिर जिंदगी चैनसे कटेगी। बहुत रुपये कमानेका अर्थ है आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आम तौरपर मानते है कि बुढापेमे आरामकी जरूरत रहती है; परंतु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमे ठीक तरहसे रहे तो बुढापेमें भी काम करते रहेंगे। बल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे बुढापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होगे, और उसी समय, कहते है कि आराम करेंगे !

ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको बिलकुल ही मौका न मिले। नल राजा इतना महान्, परतु पांव धोते हुए जरा-सा हिस्सा कोरा रह गया, तो कहते हैं कि उसीमें कलि भीतर पैठ गया ! नल राजा तो था अत्यंत शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परंतु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया तो फौरन 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा ही शरीर खुला पडा है। कहीसे भी आलस्य हमारे अंदर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसा जाते हैं। आजके समाजकी रचना इस आलस्यपर ही खडी है। इससे अनत दु:ख उत्पन्न हो गये है। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें तो सब नही, तो बहुतेरे दु:खोको हम दूर कर सकेंगे।

आजकल चारो ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए, और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख तो दूसरी ओर अतिशय दु:ख है। एक ओर सपत्तिका ढेर तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई ! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो ? तमाम आवश्यक सुख सहज तौर-पर प्राप्त करनेका एक ही उपाय है, और वह है, आलस्य छोडकर सब

श्रम करनेको तैयार हो। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रम करनेका निश्चय कर लें तो यह दुःख दूर हो जाय।

परंतु आज समाजमें हम देखते क्या है? एक ओर जग चढ़-चढ़कर निरुपयोगी हुए लोग दीखते है। श्रीमानोंकी इंद्रिया जंग खा रही है। उनके शरीरका उपयोग ही नहीं किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक-श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पच कर काम करते हैं, वे खुशी-खुशी ऐसा नही करते। बदर्जे मजबूरी करते हैं। पढ़े-लिखे समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते है। कोई कहते हैं—"फजूल क्यो शारीरिक श्रममें समय गवावें?" परतु कोई ऐसा नहीं कहता—"यह नींद क्यो फिजूल लें?" "भोजनमें समय क्यो बरबाद करें?" भूख लगती है, तो खाते हैं। नीद आती है तो सो जाते है। परतु जब शारीरिक कामका सवाल आता है तो अलबत्ते हम कहते है—"फिजूल इसमें क्यो समय बरबाद करें? क्यो अपने शरीरको इतने कष्टमें डालें? हम तो मानसिक श्रम जो कर लेते है!" तो जनाब! यदि काम मानसिक करते है तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिए व नींद भी मानसिक ले लीजिए! मनोमय नीद व मनोमय भोजन करनेकी तजवीज कर लीजिए न!

इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हो गए हैं। एक तो वे, जो दिन-रात पिसते-मरते हैं, दूसरे वे, जिन्हे हाथतक हिलाना नही पडता। मेरे एक मित्रने एक रोज कहा—कुछ रुण्ड व कुछ मुण्ड। एक ओर धड है, दूसरी ओर सिर। धड सिर्फ खपता रहे, सिर सिर्फ विचार करता रहे। इस तरह समाजमें ये राहु-केतु, रुण्ड व मुड दो प्रकारके हो गये हैं। परतु यदि सचमुच ही ये रुंड-मुड होते तो कोई बात नही थी। तब अध-पंगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अधेको लगडा रास्ता दिखावे, लंगडेको अधा कंधेपर बिठाले। परतु इन रुड-मुडोंके ऐसे अलग टुकडे, समूह नहीं है। प्रत्येकमें रुड व मुड दोनों है। ये जुडे रुंड-मुड सब जगह है। इससे और मजबूरी है। अतः प्रत्येकको चाहिए कि आलस्यसे बाज आवे।

आलस्य छोडनेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका एक यही उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया तो इसकी सजा भी कुदरतकी ओरसे मिले बिना न रहेगी। बीमारियोंके या किसी और कष्टके रूपमें वह सजा भोगनी ही पडेगी। जब कि शरीर हमको मिला है, तो श्रम हमे करना ही होगा। शरीर-श्रममें जो समय लगाता है, वह व्यर्थ नही जाता। इसका बदला जरूर मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। बहुतेरे विचारको-के विचारोमें भी उनके पेट-दर्द और सिर दर्दका प्रतिबिंब आ जाता है। विचारशील लोग यदि धूपमें, खुली हवामें, कुदरतकी गोदमें मेहनत करेंगे तो उनके विचार भी तेजस्वी हो जायगे। शारीरिक रोगका जैसे मन पर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है। बादमें तपेदिक हो जानेपर भुवाली या और कही पहाडपर शुद्ध हवामें जाने या सूर्य-किरणोका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमें पेडोको पानी पिलाने और लकड़ी काटनेका काम करें, तो क्या बुरा ?

[७७]

आलस्यपर विजय प्राप्त करना एक बात हुई। दूसरी बात है, नीद-को जीतना। नीद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-संतोकी नीद एक योग ही है। इस प्रकारकी शात और गहरी नीद महा-भाग्यवानोको ही मिलती है। नीद गहरी, गाढी होनी चाहिए। नीद-का महत्व लंबाई-चौडाईपर नही है। बिछौना कितना लबा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पडा रहा, इस बातपर नीद अवलबित नहीं है। कुआ जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नीद चाहे थोडी हो, पर यदि गहरी हो तो उससे उत्तम काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घटा पठन, चंचलतासे किये गये तीन घंटेके पठनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नींदकी है। लंबी नीद अंतमें हितकर ही होती है, ऐसा नही कह सकते। बीमार चौबीसों घटे बिस्तरपर पडा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार

भेंट है, लेकिन नींदसे भेंट ही नही। सच्ची नीद वह जो गहरी व नि-स्वप्न हो। मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परतु जिसे नीद अच्छी नहीं आती, दु.स्वप्न आते रहते है, उसकी यम-यातनाका हाल मत पूछिए। वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

"परा दुःस्वप्न्यं सुव"

'ऐसी दुष्ट नीद मुझे नही चाहिए।' नीद आरामके लिए होती है; परतु यदि उसमें भी तरह-तरहके सपने व विचार पिंड न छोडते हो तो फिर वहा आराम कहा रहा ?

तो गहरी व गाढी नीद आवे कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नीदके लिए भी है। शरीर से सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौनेपर पडते ही मनुष्य मुर्देकी तरह सोयेगा। नीद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुदर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व-तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अग्रेज कवि शेक्सपीयरने कहा है—"राजाके सिरपर तो मुकुट है, परंतु सिरमें चिंता है!" उस राजाको नीद नही आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नही करता है। जो जागृतिमें सोता है, वह सोनेके समय जगता रहेगा। दिनमें बुद्धि व शरीरका उपयोग न करना नीद नही तो क्या है ? फिर नीदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है, और शरीर भी वास्तविक निद्रा-सुखसे वचित रहता है। फिर दीर्घ समयतक सोते पडे रहते है। जिस जीवनमें परम पुरुषार्थ साधना है, उसे यदि नीदने खा डाला तो पुरुषार्थकी नौबत आयगी कब ? आधा जीवन यदि नीदमें ही चला गया तो फिर हम क्या हासिल कर सकेंगे ?

जब बहुत-सा समय नीदमें ही चला जाता है तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष—'प्रमाद' अपने-आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नही रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नीदसे फिर आलस्य बढता है और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है; परतु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात

हो बैठी है। विस्मृति कोई बडा दोष है, ऐसा किसीको मालूम ही नही होता। किसीसे मिलना तय करते है, परतु फिर जाते नही। पूछनेपर कहते है—"अरे भाई, मै तो भूल ही गया।" ऐसा कहनेवालेको भी कोई बडी भूल हो गई है ऐसा नही लगता। और सुननेवाला भी सतुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नही है ऐसा लोगोका खयाल बना दीखता है; परतु यह गफलत, क्या परमार्थमें व क्या प्रपचमें, दोनो जगह, हानिकर ही है। वास्तवमें विस्मरण एक बडा रोग है। उससे बुद्धिमें घुन लग जाती है। जीवन खोखला हो जाता है।

मनका आलस्य विस्मरणका कारण है। मन यदि जाग्रत रहे तो वह भूलेगा नही। लेटे रहनेवाले मनको विस्मरण-रूपी बीमारी हुए बिना नही रहती। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते है—

"पमादो मच्चुनो पद"

प्रमाद, विस्मरण याने मृत्यु ही है। इस प्रमादपर विजय पानेके लिए आलस्य व निद्राको वशीभूत कीजिए। शरीर-श्रम कीजिए व सतत सावधान रहिए। जो-जो काम करने हो, उन्हे विचार-पूर्वक कीजिए। यो ही बिना विचारे कोई काम नही होना चाहिए। कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार। आगे-पीछे सर्वत्र विचार-रूपी परमेश्वर खडा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे तो फिर अनवधान-रूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बाधे रखिये। एक-एक क्षणका हिसाब रखिये तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नही रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुण को जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

[७८]

रजोगुणपर मोर्चा लगाना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। यह तमोगुणका ही दूसरा पहलू है। बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनो पर्यायवाची शब्द है। जब शरीर बहुत सो चुकता है तो वह हलचल करने लगता है और जो शरीर बहुत दौड-धूप कर चुकता है, वह बिस्तरपर पडना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी व रजोगुणसे तमोगुणकी प्राप्ति होती है। जहां एक है वहा दूसरा आया ही समझिए।

जिस तरह रोटी एक ओर आग व दूसरी ओर भूभरमें फस जाती है, उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते हैं। रजोगुण कहता है—"इधर आओ, तुम्हें तमोगुणकी तरफ उडाता हू।" तमोगुण कहता है—"मेरी तरफ आओ कि मैं रजोगुणकी ओर ढकेला।" इस प्रकार ये रजोगुण व तमोगुण परस्पर-सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं। फुटवालका जन्म जैसे चारो ओरसे लात-ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुण व तमोगुणकी ठोकरें खानेमें ही जाता है।

रजोगुणका प्रधान लक्षण है नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा, अमानुष कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरपार कर्म-सग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारो-का वेग संभलने नही पाता। इधरका पहाड उधर ले जाकर उधरका खड्डा भर डालनेकी इच्छा होती है। इधर समुद्रमें मिट्टी डालकर उसे भर डालने व उधर सहाराके रेगिस्तानमें पानी छोडकर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदू, उधर पनामा नहर बनाऊ, ऐसी उधेड-बुन शुरू होती है। जोट-तोडके सिवा चैन नही पडती। छोटा बच्चा जैसे एक कतरनको लेकर उसे फाडता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमें यह मिलाओ, उसमें वह डुबाओ, उसे यो उडाओ, इसे यो बनाओ—ऐसे ही अनंत खेल रजोगुणके होते है। पछी आकाशमें उडता है, हम भी आकाशमें क्यों न उडें? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमें क्यो न रहें? इस तरह, नर-देहमें आकर पशु-पक्षीकी बराबरी करनेमें हमें कृतार्थता मालूम होती है। पर-काया-प्रवेशकी तथा दूसरे देहोके आश्चर्योका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है—चलो, मगलकी सैर कर आवें व वहाकी आबादी देख आवें। चित्त एक-सा भ्रमण करता रहता है। मानो अनेक वासनाओका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है। जो जहा है, वह वहा देखा ही नही जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है—मैं इतना बडा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे? जैसे कोई पहलवान होता है—शक्ति उसके रोम-रोमसे फूटकर

निकलना चाहती है, उसे हजम करनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है तो कभी पेडको धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी उमगें होती है। इसके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है, उसके पेटमेंसे कुछ पत्थर निकलता है व उन्हें हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी उमगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है व उसके तलेका कूडा-करकट ऊपर लाकर उसे मोती नाम देता है; परतु मोतीमें छेद नही होता, अत. उनमें छेद करता है। अव वे मोती पहनें कहां? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाते हैं। मनुष्य यह सव उखाड-पछाड क्यो करता है? यह सारा रजोगुण का प्रभाव है।

रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमें स्थिरता नही रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अतः जरा-सी विघ्न-वाधा आते ही वह अंगीकृत मार्ग छोड देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है। इसका परिणाम अतमें यह आता है कि उसके पल्ले कुछ भी नही पडता।

"राजसं चलमध्रुवम्"

रजोगुणीकी सारी कृति चचल व अनिश्चित रहती है। छोटे वच्चे गेहू बोते है और उसी समय खोदकर देखते हैं—वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झट-झट सब-कुछ उसके पल्ले पडना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। सयम खो देता है। एक जगह पाव जमाना वह जानता ही नही। यहा जरा-सा काम किया, वहा कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला तीसरी जगह। आज मदरासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें व परसो बवई-नागपुरमें! जितनी म्युनिसिपैलिटिया हो उतने ही मानपत्र लेनेकी उसे लालसा रहती है। मान ही मान उसे सव जगह दीखता है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नही होती। इससे रजोगुणी मनुष्यकी स्थिति वडी भयानक हो जाती है।

रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धन्धो—कार्योमें टाग अडाता रहता है। स्वधर्म जैसा उसके लिए कुछ नही रहता। वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है इतर नाना कर्मोका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका

रामवाण उपाय है। रजोगुणमें सब-कुछ चचल है। पर्वतके शिखर पर गिर-कर पानी यदि विविध दिशाओंमें वहने लगा तो फिर वह कहीका नही रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है। परंतु वही यदि एक दिशामें वहेगा तो उसको आगे चलकर एक नदी हो जायगी। उसमें एक शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुचेगा। उसी तरह मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगोंमें न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थित रूपसे लगावे तो ही उसके हाथसे कुछ कार्य होगा। इसलिए स्वधर्मका बडा महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिंतन करके उसीमें सारी शक्ति लगानी चाहिए, दूसरी वातकी ओर ध्यान ही न जाने पावे। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई अति अथवा भारी कर्म नही है। केवल अमित कर्म करनेका नाम कर्मयोग नही है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना। नही तो यो सृष्टिमें एकसा कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगके मानी है विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज वोना और योही मुट्ठीभर अनाज लेकर कही फेंक देना—दोनो विलकुल अलग-अलग वातें है। दोनोमें वडा अंतर है। हम जानते है कि अनाज वोनेसे कितना फल मिलता है और यो ही उसे फेंक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है वह वुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्म-रूप कर्त्तव्यमें अमित शक्ति रहती है। वहा तमाम श्रम नाकाफी होते है। अत. उसमें भारी दौड-धूपके लिए कोई अवसर ही नही रहता।

[७९]

तो यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय? ऐसा कोई प्रश्न करें तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्य के जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जन्मा है। वच्चेके लिए जैसे उसकी

मां तलाश नही करनी पडती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी। हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक वडा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमे हमारा जन्म हुआ है। जिन मा-बापके यहा मैने जन्म लिया है उनकी सेवा, जिन अडोसी-पडौसीमें मेरा घर है उनकी सेवा—ये दो कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियां तो मेरे नित्य अनुभवकी ही है न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अत भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना यह धर्म मुझे अपने-आप प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवा-रूप, भूतदया-रूप स्वधर्म हमें खोजना नही पडता। जहां कही स्वधर्मकी खोज हो रही हो वहा निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कही जाना नही पडता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परतु एक वात ध्यानमे रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो वह सब सदा धर्म्य ही होता हो ऐसी वात नहीं है। किसी किसानने मुझे रातको कहा—"चलो, वह वाड़ चार-पाच हाथ आगे हटा दें। मेरे खेतकी सीव वढ जायगी। अभी कोई है नही, विना गुलगपाडेके ही सव काम हो जायगा।" यद्यपि यह काम मुझे अपने पडोसीने वताया है, वह सहज प्राप्त है, तो भी उसमें असत्यका आश्रय होनेके कारण वह मेरा कर्त्तव्य नही ठहरता।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता व धर्म दोनो है। इस स्वधर्मको छोडनेसे काम नही चल सकता। जो मा-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वेही मेरे मां-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूं कि वे मुझे पसद नही है तो कैसे काम चलेगा? मा-बापका पेशा स्वभावत ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो तो उसीको करना, उसी काम या उद्योगको जारी रखना चातुर्वर्ण्यकी एक बडी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्तव्यस्त हो गई है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है; परतु यदि यह ठीक ढगपर लाई जा सके, तो

बहुत अच्छा होगा। नहीं तो आज शुरूके पच्चीस तीस साल तो नये काम, नये पेशेको सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र तलाशता है। इस तरह शुरूके पच्चीस साल तक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई संबंध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जगता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो, जीना व सीखना, ये दोनो चीजें अलग-अलग कर दी गई हों। जहा जीनेका संबध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे! हिंदुस्तानकी औसत उम्र तेईस साल है और पच्चीस सालतक तो यह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नवीन काम-धघा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं; तब कही उस काम-धधेकी शुरुआत होती है। इससे उमगके व महत्त्वके साल फजूल ही चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमग जन-सेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चले जाते हैं। जीवन कोई हँसी खेल नहीं है। पर दु:खकी बात है कि जीवनका पहला बेशकीमती भाग तो जीवनका काम-धधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्मकी तरकीब निकाली है।

परंतु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र, जहा यह व्यवस्था नहीं है वहां भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाहमें किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जन्मे हैं; इसी-लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्त्तव्य अपने-आप ही हमें प्राप्त रहता है। अत: जो दूरवर्त्ती कर्त्तव्य हैं—उन्हें वास्तवमें कर्त्तव्य कहना ठीक नहीं—उन्हें उनके कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करना चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातोंपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहा खड़ा है, वहा भी गहरा कुहरा फैला रहता है, परतु पासका घना कुहरा उसे नहीं दीखता। वह दूर अगुली दिखाकर कहता है— "वहां बड़ा कुहरा फैला है", उधरका आदमी इसकी ओर अगुली बताकर कहता है कि, "उधर घना कुहरा है।" कुहरा सब जगह है, परतु पासका दिखाई नहीं देता। मनुष्यको दूरकी बातोंमें आकर्षण दिखाई देता है। नजदीकका

कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमें दीखता है। परंतु यह मोह है। इसे छोडना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त मालूम होता हो, नीरस प्रतीत होता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है, वही भला है। वही मेरे लिए सुदर है। जो मनुष्य समुद्रमे डूब रहा हो, उसे कोई टेढा-मेढा और भद्दा-सा लकडीका टुकडा हाथ आ जाय, वह पालिश किया हुआ चिकना व सुदर न हो तो भी वही बचानेवाला है। बढईके कारखानेमें बहुतसे बढिया चिकने और बेल-बूटेदार टुकडे पडे रहते है; परंतु वे तो है कारखानेमें, और यह यहां समुद्रमें डूब रहा है। अतएव जैसे वह बेढगा लकडीका टुकडा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड लेना चाहिए। उसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गई है, वह कम दर्जेकी मालूम होनेपर भी वही मेरे कामकी है। उसीमें मगन हो रहना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है। उसको छोडकर यदि मै दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पडूंगा तो यह पहली भी चली जायगी और दूसरी हाथ लगनेकी नही। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे ही दूर भटक जाता है। इसीलिए स्वधर्म-रूप कर्त्तव्यमें ही हमें मगन रहना चाहिए।

जब हम स्वधर्ममें मग्न रहने लगते है तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योकि तब चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वधर्मको छोडकर कही जाता ही नही, इससे चंचल रजोगुणका सारा जोर ही कम पड़ जाता है। नदी जब शात और गहरी होती है तो कितना ही पानी उमड बढ आये तो भी वह उसे अपने पेटमें समा लेती है। इसी तरह स्वधर्म-रूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति पचा सकती है। स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी कम ही है। स्वधर्ममें आप सब शक्ति लगा देंगे तो फिर रजोगुणकी दौड-धूप करने वाली वृत्ति नही-सी हो जायगी, मानो आपने चचलताका मुह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको वशीभूत करनेकी।

[८०]

अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत संभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्वगुण

को एकदम निर्मूल नही करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पडता है, परतु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड इकट्ठी हो गई हो और उसे तितर-बितर करना हो तो सिपाहियोको यह हुक्म दिया जाता है, कि कमरके ऊपर नही पावकी तरफ, गोलिया चलाओ। इससे मनुष्य मरता नही, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नही डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है, तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें—अवस्थामें रहना ही पडेगा। तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा, उससे अलग रहनेके मानी आखिर क्या है?

जब सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खीच लाता है। लालटेनकी ज्योतिकी प्रभाको स्वच्छ रूपमें बाहर फैलाना हो तो उसके अदरका सारा काजल पोछ ही देना पडता है; परंतु यदि काचपर धूल जम गई हो तो वह भी धो डालनी पडती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुण-रूपी काजल जमी रहती है उसे अच्छी तरह दूर कर डालनी चाहिए, उसके बाद रजोगुण-रूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुणको धो डाला, रजो-गुणको साफ कर डाला तो अब सत्त्वगुण-रूपी काच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह लें कि उस काचको भी फोट डालें? नही। यदि काच ही फोड डालेंगे तो फिर लालटेनका कार्य नही होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए काचकी तो जरूरत रहेगी ही। अतः इस शुद्ध चमकदार काचको फोडें तो नही, परतु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकडा उसके सामने जरूर लगा दें, जिससे आखें चकाचौंध न हो जाय। जरूरत सिर्फ आखोको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुण पर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान—हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुणसे काम तो ले लेना है, परतु ढगसे, तरकीबसे। सत्त्वगुणको निरहकारी बना देना चाहिए।

तो इस सत्त्वगुणके अहकारको कैसे जीता जाय? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुणको हम अपने अदर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका

अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुणी कर्मोंको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें। सत्त्वगुण हमारे यहा घडी भरके लिए आया हुआ मेहमान ही नही रहे, बल्कि वह घरका आदमी हो जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमे अभिमान होता है। सोते हम रोज है, परतु उसकी चर्चा दूसरोसे नही करते। लेकिन जब किसी बीमारको पद्रह दिन नीद न आई हो और फिर जरा-सी नीद लगी हो तो वह सबसे कहता है—"कल जरा झपकी लगी थी।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वास क्रियाका ले। सास हम चौबीसो घटे लेते है, परतु हर किसीसे उसका जिक्र नही करते। क्या कभी कोई किसीसे अभिमानके साथ कहता है कि "मै एक सास लेनेवाला प्राणी हू।" हरद्वारसे फेंका तिनका यदि गगामें बहता-बहता डढ हजार मील दूर कलकत्तामें पहुच गया तो क्या वह उसपर गर्व करेगा ? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे बहता चला आया। परतु यदि कोई बाढकी उलटी धारामे दस-बीस हाथ तैर गया तो वह कितनी शेखी बघारेगा? मतलब यह कि जो बात स्वाभाविक है, उसका हमे अहकार नही मालूम होता।

जब कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है तो हमें उसका अभिमान मालूम होता है। क्यो? इसलिए कि वह बात सहज-रूपसे नही हुई। मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो गया तो मा उसकी पीठ ठोकती है। वरना यो तो माकी छडीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेंट होती है। रातके घने अधकारमें कोई एकाध जुगनू हो तो फिर देखिए उसकी ऐंठ। वह एकबारगी अपनी सारी चमक नही दिखाता। बीचमें लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। प्रकाशको ढाकता और खोलता रहता है। परतु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे तो फिर उसकी ऐंठ नही रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नही होती। इस तरह सत्वगुण यदि हमारी क्रियाओमे सतत प्रकट होने लगे तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिंहको अपने शौर्यका अभिमान नही रहता। बल्कि भान भी नही रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हमें उसकी स्मृति भी न होने पावे।

प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नही रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय तो वह कहेगा—"इसमें मैंने विशेष क्या किया? मैं प्रकाश देता हूं तो अधिक क्या करता हू? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दू तो मैं मर जाऊंगा। मैं दूसरी कोई चीज ही नही जानता।" ऐसी स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सात्त्विक गुण उसके रोम-रोममें पैवस्त हो जाना चाहिए। जब ऐसा स्वभाव ही हमारा सत्त्वगुणमय हो जाय तो हमें उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी—उसे जीतनेकी यह एक तरकीब हुई।

अब दूसरी तरकीब है सत्त्वगुणकी आसक्ति तक छोड देना। अहंकार व आसक्ति ये दो अलग-अलग चीजें हैं। यह भेद जरा सूक्ष्म है। अतः दृष्टांतसे जल्दी समझमें आजायगा। सत्त्वगुणका अहकार चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण लें। सास लेनेका अभिमान तो नहीं होता है, परतु उसमें बडी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पाच मिनटतक सास रोके रहो तो नही बनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परंतु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अत. लोग उसे देखकर हसा करते; परंतु हसोड सुकरात कहता "मेरी नाक सबसे बढिया है। जिन नाकके नासापुट बडे हो, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुदर है।" मतलब यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नही, पर आसक्ति है। सत्त्वगुणोके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यत उपयोगी है; परतु उसकी भी आसक्तिसे दूर रह सकना चाहिए। भूत-दया तो आवश्यक है, परतु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

सत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरेके लिए मार्ग-दर्शक होते हैं। उनका देह भूतदयाके कारण सार्वजनिक हो जाता है। मक्खिया जिस प्रकार गुडकी भेलीको ढाक लेती है, उसी प्रकार सारी दुनिया संतो पर अपने प्रेमकी चादर ओढाती है। सतोके अदर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। सत अपने देहकी

आसक्ति छोड़ देते है, अतः सारे संसारकी आसक्ति उनमें हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिंता करने लगती है। परंतु यह आसक्ति भी संतोको दूर करनी चाहिए। यह जो संसारका प्रेम है, यह जो महान् फल है, इसमें भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष व्यक्ति हूं—ऐसा उन्हें कभी न मालूम होना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमें पचा डालना चाहिए।

पहले अहकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहकार जीत लिया जायगा और फलासक्तिको छोडकर सत्त्वगुणसे प्राप्त फल-को भी ईश्वरार्पण करनेसे आसक्ति पर विजय हो सकती है। जीवनमें जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तो कभी सिद्धिके रूपमे व कभी कीर्तिके रूपमें फल सामने आता है। परतु उस फलको भी तुच्छ मानिए। आम-का पेड अपने एक भी फलको खुद नही खाता। फल कितना ही बढिया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर होता है। उपभोगकी बनिस्बत त्याग अधिक मधुर है। धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सार-स्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अतमें ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोपर उन्होने कलश चढा दिया। उन मधुर फलोको चखनेका उन्हें हक था, परतु यदि वह उन्हें चख लेते तो वे (फल) खतम हो जाते। "क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोक विशन्ति।" यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना जबरदस्त यह त्याग! यह सदैव मेरी आखोके सामने खडा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरण द्वारा उसके अहकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौंपकर उसकी आसक्ति-से छूट जाना चाहिए। तब कह सकते है कि सत्त्वगुण पर भी विजय प्राप्त हो गई।

[८१]

अब आखिरी बात। भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइए, अहकारको जीत लीजिए, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिए, फिर भी जबतक यह शरीर कायम है तबतक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे। थोडी देरके

लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोको जीत लिया तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अत. सतत जाग्रत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुस-घुसकर जिस तरह बडी खाडियां बना लेता है उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमें प्रविष्ट होकर खाडिया बना लेते हैं। अत. जरा भी छिद्र न रहने दीजिए। पक्का इतजाम व पहरा रखिए। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिए जबतक आत्मज्ञान नही हुआ है, आत्म-दर्शन नही हो गया है तबतक खतरा ही समझिए। अत' हर तरहसे उद्योग करके आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लीजिये।

आत्म-ज्ञान कोरी जागृतिकी कसरतसे नही होगा। तो फिर होगा कैसे? क्या अभ्याससे ? नही—उसका एक ही उपाय है । वह है "सच्चे हृदयसे, हार्दिक व्याकुलतासे भगवान्‌की भक्ति करना ।" आप रज, तम इन गुणोको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी छोड देंगे, परंतु इतनेसे भी काम नही चलेगा। जबतक आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है तबतक गुजर न होगी। अत. अतमें भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नही दिखाई देता। इस अध्यायके अतमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है व भगवान्‌ने उत्तर दिया है—"अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है वह मायाके उस पार जा सकता है। नही तो इस गहन मायाको तर जाना आसान नही है।" यह भक्तिका सरल उपाय है। यह एक ही मार्ग उसके लिए है।

रविवार, २२-५-३२

पन्द्रहवां अध्याय

[८२]

आज एक अर्थमे हम गीताके छोर पर आ पहुंचे है। पद्रहवें अध्यायमें सब विचारोकी परिपूर्णता हो गई है। सोलह-सत्रह अध्याय परिशिष्ट-रूप है वह अठारहवा उपसहार है। यही कारण है जो भगवान्‌ने इस अध्यायके अतमें इसे 'शास्त्र' सज्ञा दी है—

"कहा निष्पाप है, मैंने गूढ अत्यन्त शास्त्र ये"

ऐसा अतमें भगवान्‌ने कहा है। यह इसलिए नही कि यह अतिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धात बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमें की गई है। इस अध्यायमें परमार्थ पूरा हो गया। वेदोका सारा सार इसमे आगया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोका कार्य है। वह इस अध्यायमें किया गया है, अत: इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवें अध्यायमें देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेंमें तत्सबधी प्रयत्नवादकी छान-बीन की। रजोगुण व तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करें, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत ले, उसके फलका त्याग करे, इस तरह यह प्रयत्न करना है। अंतमें कहा गया कि इन प्रयत्नोके सोलहो आने सफल होनेके लिए आत्म-ज्ञानकी आवश्यकता है। और आत्म-ज्ञान बिना भक्तिके शक्य नही।

परतु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नही है। यही सूचित करनेके लिए इस पंद्रहवें अध्यायके आरभमें ही संसारको एक महान् वृक्षकी उपमा दी गई है! त्रिगुणोसे पोषित प्रचड शाखाए इस वृक्षकी है। आरभमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति व वैराग्य-रूपी शस्त्रोसे इस वृक्षको काटना चाहिए। यह साफ है कि पिछले अध्यायमें जो साधन-मार्ग बताया

गया है, वही फिर आरभमें यहा दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना व सत्त्वगुणकी पुष्टि-द्वारा अपना विकास कर लेना है। एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना व बीज बोना—दोनो एक ही क्रियाके भिन्न-भिन्न अंग हैं। वैसी ही यह बात है। रामायणमें रावण, कुंभकर्ण, व विभीषण, ये तीन भाई हैं। कुभकर्ण तमोगुण है, रावण रजोगुण व विभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीरमें इन तीनोकी रामायण रची जा रही है। इस रामायणमे रावण व कुंभकर्णका तो नाश ही विहित है। एक विभीषण-तत्त्व, यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय, तो उन्नतिका साधक व पोषक हो सकेगा। और इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवें अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पद्रहवें अध्यायके आरभमे फिर वही बात आई है। सत्त्व-रज-तमसे भरे ससारको असंग-रूपी शस्त्रसे छेद डालो। रज-तमका निरोध करो। सत्त्वगणका विकास करके पवित्र होओ व उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमल-पुष्पका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है। भारतीय सस्कृतिमें जीवनकी आदर्श वस्तुओकी, उत्तमोत्तम वस्तुओकी, कमलकी उपमा दी गई है। कमल भारतीय सस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ व पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता व अलिप्तता ऐसी दुहरी शक्ति कमलके पास है। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न अवयवोकी कमलसे उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिर-कमल आदि इनके द्वारा यह भाव हमारे हृदयमें अकित किया है कि सर्वत्र सौंदर्य व पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

पिछले अध्यायमे बताई साधनाको पूर्णतापर पहुचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमें जब आत्म-ज्ञान व भक्ति मिल जाय तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान व भक्ति, ये उसी साधनाके अग हैं। वेदोमे ऋषि कहते हैं—

"यो जागार तं ऋचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति"

"जो जाग्रत रहते हैं, उनसे वेद प्रेम करते हैं, उनसे भेंट करनेके लिए

वे आते हैं।" अर्थात् जो जाग्रत है, उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान व भक्ति अलग नही है। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनो तत्त्व प्रयत्नमें मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्र चित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिए।

[८३]

जीवनके मैं टुकडे नही कर सकता। कर्म, ज्ञान, भक्ति इनको मैं जुदा-जुदा नही कर सकता, न ये जुदा ही हैं। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोई वनानेके कामको ही देखिए। पाच-सात सौ मनुष्योकी रसोई वनानेका काम अपनेमेसे कुछ लोग करते हैं। यदि इनमे कोई ऐसा शख्स होगा जो रसोई वनानेका ज्ञान ठीक-ठीक न रखता हो तो वह रसोई खराव कर देगा। रोटिया कच्ची रह जायगी या जल जायगी। परतु यहा हम यह मानकर चलें कि रसोई वनानेका उत्तम ज्ञान है। फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमें उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, ये रोटिया मेरे भाइयोको अर्थात् नारायणको ही मिलनेवाली हैं, इन्हें अच्छी तरह बेलना व सेंकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है, ऐसा भाव उसके हृदयमे न हो तो पूर्वोक्त ज्ञान होकर भी वह इस कामके लिए योग्य नही सावित होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस जवतक हृदयमें न हो तवतक वह रसोई स्वादिष्ट नही हो सकती। इसीलिए तो विना माकी रसोई फीकी रहती है। माके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेमभावसे करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये विना, कष्ट उठाये विना यह काम कैसे होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल वनानेके लिए प्रेम, ज्ञान व कर्म, तीनो चीजोकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोपर खडे हैं। तिपाईका यदि एक पाव भी टूट जाय तो वह खडी नही रह सकती। तीनो पाव चाहिए। उसके नाममें ही उसका स्वरूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति व कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य ये जीवनके तीन पाव हैं। इन तीनो खभोपर जीवन-रूपी द्वारका खडी करनी है।

ये तीन पाव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। तिपाईका दृष्टात अक्षरश. इसपर चरितार्थ होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान, कर्मको अलग-अलग मानिए, परतु प्रत्यक्षत इनको अलग नही किया जा सकता। तीनो मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

ऐसा होनेपर भी यह बात नही कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ मालूम होगा। 'सुलभ मालूम होगा' का मतलब यह नही कि कष्ट नही होगे, परतु यह कि वे कष्ट, 'कष्ट' नही मालूम होगे, उलटे आनद-रूप मालूम होगें। शूल फूल-जैसे प्रतीत होगे। हा, तो भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी आखिर क्या? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नही मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसा-मसीह एक जगह कहते है—"यदि तू उपवास करता है, तो चेहरेपर उपवासकी थकान न मालूम होनी चाहिए, उलटा तेरे गाल व चेहरा सुगंधित द्रव्य लगा-सा आनदित, प्रफुल्लित दिखाई देना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा न दिखना चाहिए।" सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्ति-मय, तल्लीन हो जानी चाहिए कि कष्ट भूल जाय। हम कहते है न, कि फला बहादुर, देश-भक्त हसते-हसते फासी पर चढ गया। सुधन्वा तेलकी कढाईमें हस रहा था। मुहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंदकी ध्वनि निकल रही थी। इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पडनेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानीपर पडी हुई नावको धकेलना कठिन नही है; परतु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोपरसे खीचकर ले जाना हो तो कितनी मेहनत पडेगी? नावके नीचे यदि पानी होगा तो हम आसानीसे पार कर जायगे—सहज ही तर जायगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्ति-रूपी पानी होगा तो वह आनदसे खेई जा सकेगी, परतु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमें रेता पडा होगा, ककड-पत्थर होगे, खड्डे खाई होगे तो इस नौकाको खीचकर ले जाना बडा विकट काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामें सुलभता आ जाती है। परंतु आत्मज्ञानके

विना सदाके लिए त्रिगुणोके उस पार जानेकी आशा नही। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्व गुणको आत्मसात् करके उसका अहकार व भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्ति को जीतनेका प्रयत्न। इस साधनाके द्वारा सतत, अखड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्म-दर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अंत नही आ सकता। यह परम-पुरुषार्थकी बात है। आत्म-दर्शन कोई हसी-खेल नही है। रास्ते चलते यो ही आत्म-दर्शन हो जायगा—ऐसा नही है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गकी शर्त ही यह है कि "मैं निराशाको तिलमात्र जगह न दू। क्षण भर भी मैं निराश होकर न बैठू।" इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नही है। कभी-कभी साधक थक जाता है व कहने लगता है—

"तुव कारन तप संयम किरिया
कहो कहां लौं कीजै"

—"भगवन्, मै तुम्हारे लिए कहा तक तप करता रहू?" परतु यह कहना गौण है। तप व सयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जाय। 'कहातक साधना करते रहे', यह भाषा भक्ति-मार्गमें शोभा नही देती। अधीर-भाव, निराशा-भाव भक्ति, कभी भी पैदा नही होने देगी; जी ऊबने जैसी कोई बात उसमें न होनी चाहिए। भक्तिमें उत्तरोत्तर उल्लास व उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत उम्दा विचार इस अध्यायमें बताया गया है।

[८४]

इस विश्वमें हमे अनत वस्तुए दिखाई देती है। इनके तीन भाग कर डाले। जब कोई भक्त सुबह उठता है, तो तीन ही चीजें उसकी आखो-के सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवान्की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मैं सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी—ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती है। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। फूल, गध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजे हैं—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा

व सेवा-साधनके रूपमें यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमें दी गई है। परन्तु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है, उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोडकर लाता है, कहींसे अगरबत्ती ले आता है वह कुछ नैवेद्य लगा देता है। वह चुनकर, छांटकर ही चीजें लेना चाहता है, परन्तु पंद्रहवें अध्यायकी विशाल शिक्षाके अनुसार यह चुनाव करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्याके साधन हैं, कर्मके साधन हैं, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन हैं। उनमेंसे कुछको हम फूल कहेंगे, कुछको गंध और किसीको नैवेद्य। इस तरह जितने भी कर्म हैं, उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस, संसारमें सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अंकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्कशता हट रही है और उसमें सुलभता आ रही है।

आश्रममें जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पडता है तब उसके मनमें यह विचार ही कभी नहीं आता—'मैं ही क्यों ज्यादा काम करूं?' इस बातमें बडा सार है। पूजकको यदि दोकी जगह चार घंटे पूजा करनेको मिले तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—"अरे राम, आज तो चार घंटा पूजा करनी पडी!" बल्कि उससे उसे अधिक ही आनंद मालूम होगा। आश्रममें ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमें जीवनमें सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर पुरुष हूं। अक्षर पुरुषका अर्थ है कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरंभसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान रामके सामने सदैव हाथ जोडकर खडे ही हैं। उन्हें आलस छू तक नहीं गया है। हनुमानकी तरह ही चिरंजीव यह सेवक तत्पर खडा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम अक्षर-पुरुष है। 'परमात्मा'—यह संस्था जीवित है और मैं उसका सेवक भी सदैव कायम हूं। प्रभु कायम हैं तो मैं भी कायम हूं। देखें, वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए? यदि उसने दस अवतार लिये हैं, तो मेरे भी दस अवतार हुए हैं।

वह राम हुआ है तो मैं हनुमान, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार उतने ही मेरे भी। मीठी होड ही लग रही है। परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव, अक्षर पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी व मैं उसका बदा—सेवक। वह भावना एक-सी हृदयमें रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनत रूपोसे सजनेवाली सृष्टि; इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

सेव्य परमात्मा—पुरुषोत्तम, सेवक जीव-अक्षर पुरुष; परतु यह साधन-रूप सृष्टि क्षर है। इस 'क्षर' होनेमें बडा अर्थ है। सृष्टिका यह दूषण नही, भूषण है। इससे सृष्टिमे नित्य नवीनता आती है। कल के फूल आज काम नही दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशमान् है, यह बडे भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मै यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूगा। अपने साधनोको मैं नित्य नवीन रूप दूगा व उन्हीसे उसकी पूजा करूगा। इस नाशमानताके कारण यह सौदर्य है। चद्रकी कला जो आज है वह कल नही। चद्रका रोज नया लावण्य, दूजके उस बढते हुए चादको देखकर कितना आनद होता है? शकरके ललाटपर यह दूजका चाद कैसा चमकता है? अष्टमीके चंद्रमाका सौंदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमें चुनीदा मोती ही दिखाई देते है। पूर्णिमाको चद्रमाके तेजसे तारे नही दीखते। पूनोको परमेश्वरका मुख-चद्र दीखता है। अमावस्याका आनद तो बडा गभीर होता है। उस रातको कितनी निस्तब्ध शाति छाई रहती है। चद्रमाके जालिम प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बडे अगणित तारे बडी आजादीसे खुलकर चमकते रहते है। अमावस्याको स्वतंत्रता पूर्ण-रूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान रखनेवाला चद्रमा आज वहा नही है। अपने प्रकाशदाता सूर्यसे वह आज एक-रूप हो गया है। वह परमेश्वरमे मिल गया है। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह ससारको जरा भी दु ख न पहुचाए। चद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है; परंतु वह भिन्न-भिन्न रूपमें आनद देता है।

सृष्टिकी जो नाशवानता, नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छलछल, वह रहा है। यह रूप-गंगा यदि वहती न रहे तो उसका एक दह वन जायगा। नदीका पानी अखड-रूपसे वहता रहता है। वह सतत वदलता रहता है। एक वूद गया दूसरा आया। अत वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमें जो आनद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके कारण। गर्मियोमें परमात्माको और तरहके फल चढाये जाते है। वरसातमें हरी-हरी दूव चढाई जाती है। शरद ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प। तत्तत् ऋतु-कालोद्भव फल-पुष्पोसे भगवान्‌की पूजा की जाती है। इसीसे वह पूजा जगमग व नित्य नूतन मालूम होती है। उसमे जी नही ऊवता। छोटे वच्चेको जव 'क' लिखकर कहते है, "इस पर हाथ फेरो, इसे मोटा वनाओ," तो यह क्रिया उसे उवा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नही पाता कि इसे मोटा क्यो वनाया जाता है। वह पेंसिल आडी करके उससे जल्दी मोटा वना देता है। लेकिन फिर वह नये अक्षरोको, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तकें पढने लगता है। साहित्यिक नानाविध सुमनमालाका अनुभव उसे होता है। तव उसे अपार आनद मालूम होता है। यही वात सेवा-प्रान्तकी है। साधनोकी नित्य नवीनतासे सेवाकी उमग वढती है। सेवा-वृत्तिका विकास होता है।

सृष्टिकी यह नाशवानता नित्य नये फूल खिला रही है। गावके निकट स्मशान है। इससे गाव रमणीय मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे है, नये वालक जन्म ले रहे है। सृष्टि नित्य नवीन वढ रही है। वाहर का वह स्मशान यदि मिटा दोगे तो वह घरमें आकर वैठ जायगा। तुम ऊव उठोगे उन्ही-उन व्यक्तियोको रोज अखड देख-देखकर। गर्मियोमें गर्मी पडती है। धरती तप जाती है; परतु इससे तुम घवरा मत जाओ। यह रूप वदल जायगा। वरसातका सुख लेनेके लिए यह तपन जरूरी है। यदि जमीन खूव तपी न होगी, तो पानी वरसते ही वह कीचड हो जायगी। फिर तृण-धान्य उसमे नही सजने पावेंगे। मै एक वार गर्मियोमें घूम रहा था। सिर तप रहा था। वडा आनद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा—"सिर गरम हो जायगा। फिर तकलीफ होगी।" मैंने कहा—

"नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी तो जरा तपने दो।" अहा—इधर सिर तपा हुआ हो, उधर पानीकी फुहारें पडने लगे—कैसी वहार हो! परतु जो गर्मियोमें तपता नही, वह पानी बरसनेपर भी अपनी पुस्तकमें सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरेमें, उस कब्रमें ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खडा रहकर आनदसे नाच न उठेगा; परतु हमारे वे महर्षि मनु बड़े रसिक व सृष्टि-प्रेमी थे। अपनी स्मृति में लिखते है—"जव पानी वरसने लगे तो छुट्टी कर दो।" जव वरसा हो रही हो, तो क्या आश्रममें बैठे रहकर सथा रटते रहें? वर्षामे तो नाचना गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूप होना चाहिए। वर्षामें पृथ्वी व आकाश एक-दूसरेसे मिलते है। यह भव्य दृश्य कितना आनददायी है? यह सृष्टि स्वत हमे शिक्षा दे रही है।

साराश, सृष्टिकी क्षरता, नाशवानता, का अर्थ है साघनोकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव-प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसके सेवाके लिए खडा सनातन सेवक व वह सेव्य परमात्मा। अव चलने दो खेल। वह परम पुरुप पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेम-मूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। तरह-तरहके प्रयोग मुझसे करा रहा है। यदि हमे जीवनमे ऐसी दृष्टि आजाय तो कितना आनद मिले।

[८५]

गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घंटा-आध-घटा ईश्वरकी पूजा करते है सो तो ठीक ही है। प्रात काल व सायकाल जव सुदर सूर्य-प्रभा अपना रग छिटकाती है तव चित्तको स्थिर करके थोडी देरके लिए ससारको भूल जाना और अनतका चिंतन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोडना चाहिए। परतु गीताको इतनेसे सतोप नही है। सुवहसे शामतककी सारी क्रियाए भगवानकी पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, चलते, झाडते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाडते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, मेरे जीवन-देवका आगन साफ कर रहा हू। हमारे

समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ गई तो फिर देखियेगा, आपके व्यवहारमें कितना अतर पड जायगा। हम कितनी चितासे पूजाके लिए फूल चुनते हैं, उन्हे जतनसे डलिया में सभालकर रखते है, वे दब न जायं, कुचल न जाय, कुम्हला न जायं इसका कितना ध्यान रखते हैं ? कही मलिन न हो जाय, इस खयालसे उन्हे नाकके पास नही ले जाते। यही दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें हो जानी चाहिए। अपने इस गावमें मेरे पडोसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो रम रहा है। अत इस गावको मैं साफ-सुथरा, निर्मल रखूगा। गीता हमें यह दृष्टि देना चाहती है। हमारे तमाम कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायं इस बात का गीता को बडा शौक है। गीता जैसे ग्रंथराज को घंटा-आध घटा की पूजासे समाधान नही। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजा-रूप होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णतापर पहुचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मै उसका सेवक व सेवाके साधन रूप यह सारी सृष्टि—यदि इस बातका दर्शन हमें एक बार हो जाय तो फिर और क्या चाहिए ? तुकाराम कह रहे हैं—

होयगा दर्शन तो करूंगा सेवा।
और कुछ नहीं, चाहू प्रभो ॥

फिर तो अखड सेवा ही हमसे होती रहेगी। तब 'मैं' जैसा कुछ रही नही जायगा। मैं मेरापन सब पोछ डालूगा, अब जो कुछ है, वह होगा सब परमात्माके लिए। पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नही रहेगा। गीता फिर-फिर से यही कह रही है कि मैं अपनेमें से मैं-पनको निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊ, भक्तिमय जीवन रचू। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक व साधन-रूप यह सृष्टि। परिग्रहका नाम ही कहा रहा ? जीवनमें अब किसी बातकी चिंता ही नही रही ?

[८६]

इस तरह अबतक हमने यह देखा कि कर्ममें भक्तिका योग करना चाहिए; परतु उसमें ज्ञानकी पुट भी जरूरी है। नही तो गीताको संतोष न होगा। परतु इसका अर्थ यह नही कि ये तीनो चीजें भिन्न-भिन्न

है, सिर्फ समझनेके लिए हम तीन जुदा-जुदा भाषा बोलते है। कर्मका मतलब ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नही पडती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे ? गीता कहती है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे"। तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा पुरुष, वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष, और नाना रूपधारिणी, प्रवाहमयी, नाना साधनदायिनी वह सृष्टि, वह भी पुरुष ही।

ऐसी दृष्टि रखनेका अर्थ क्या ? सर्वत्र त्रुटि रहित निर्मल सेवा-भाव रखना ! तुम्हारे पैरकी जूती चर्र-चू बज रही है—जरा उसे तेल दे दो। उसमें भी परमात्मा ही का अश है, अत. उसे सभालकर अच्छी हालतमें रखना चाहिए। यह सेवाका साधन चर्खा उसमें भी तेल डालो। देखो, वह आवाज दे रहा है। 'नेति-नेति'—सूत नही कातूगा—कहता है। यह चरखा—यह सेवा-साधन—यह भी पुरुष ही है। इसकी माल, उसकी यह जनेऊ, उसे भली प्रकार रखो। सारी सृष्टिको चैतन्य-मय मानो। इसे जड मत समझो। ॐकारका सुदर गान करनेवाला वह चरखा, क्या जड है ? वह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। श्रावणकी अमावास्या-को हम अहकार छोडकर बैलकी पूजा[1] करते है। बडी भारी बात है यह। इस उत्सवका खयाल रोज करके, बैलोको अच्छी हालतमें रखकर, उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्मा की ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार, इन्हे अच्छी हालतमें रखूगा। सेवाके सभी साधन पवित्र होते है। कितनी विशाल है यह दृष्टि। पूजा करनेका अर्थ यह नही है कि गुलाल, गधाक्षत व फूल चढावें। उन बरतनोको काचकी तरह साफ-सुथरा रखना बरतनोकी पूजा है। दियेको साफ पोछना दीपक-पूजा है। हसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जग खायगा, तो उसे तेल लगाकर सतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवा-द्रव्यको उत्कृष्ट व निर्मल रखना चाहिए। साराश यह कि मै अक्षर-पुरुष, वह पुरुषोत्तम व साधन-रूप यह सृष्टि; वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही।

[1] महाराष्ट्र का विशिष्ट त्यौहार, जिसे 'पोला' कहा जाता है।

सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है। जब यह दृष्टि आ गई तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आगया।

पहले कर्ममे भक्तिकी पुट दो, अब ज्ञानका भी योग कर दिया तो इनने एक अपूर्व जीवन-रसायन बन गया। गीताने हमें अतमें अद्वैतमय सेवाके रास्तेपर लाकर छोड दिया। इस सारी सृष्टिमें, जहा देखिए वहां, तीन पुरुष विद्यमान है। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहा गीताने हमे सबसे ऊचे शिखरपर लाकर बिठा दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान सब एक-रूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि सब एक-रूप, एक-जीव हो गये। कर्म, भक्ति व ज्ञान मे कोई विरोध नही रह गया। ज्ञानदेवने अमृतानुभवमें अपना प्रिय दृष्टात दिया है।

देव, मन्दिर, परिवार—बनाया काट पर्वत
ऐसा भक्तिका आचार—क्यो न होवे?

एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मदिर बनाया, उस मदिरमें पत्थर की ही गढी हुई एक भगवान्की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही एक भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फल, ये जैसे सब एक ही पत्थरकी चट्टानमें खोद-काटकर बनाते है—एक ही अखड पत्थर अनेक-रूपोमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमे भी क्यो न होना चाहिए? स्वामि-सेवक-सबध रहकर भी एकता क्यो नही रह सकती? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य जुदा रहकर भी वह आत्म-रूप क्यो न हो जाय? तीनो पुरुष एक ही तो है। ज्ञान, कर्म, भक्ति इन तीनोको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय। ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक व सेवा-द्रव्य सब एक-रूप ही है—अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अकित हो जाय, वही सच्ची भक्ति करता है।

"स सर्वविद् भजति मां सर्व भावेन भारत"

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहो आना भक्त रहता है। जिसमे

ज्ञान है, उसमे प्रेम तो है ही। परमेश्वरका ज्ञान व परमेश्वरका प्रेम, ये दो अलग चीजे नही है। 'करैला कडुआ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ कि फिर प्रेम नही उत्पन्न होता। एकाध अपवाद होगा भी। परंतु जहा कडुए-पनका अनुभव हुआ कि जी ऊवा; परतु मिश्रीका ज्ञान होते ही वह गलने लगा। तुरंत ही प्रेमका स्रोत उमड पडता है। परमेश्वरके विषय में ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना दोनो बातें एक ही है। परमेश्वरके रूपकी मधुरताकी उपमा क्या रद्दी शकरसे दी जाय? उस मधुर परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिये कि ज्ञान होना व प्रेम होना, ये दो दोनो मानो भिन्न क्रियाए ही नही है। अद्वैतमे भक्तिको स्थान है या नही, इस वहसमें कुछ नही रखा है। ज्ञानदेव कहते है—

सो ही भक्ति, सो ही ज्ञान।
एक विट्ठल ही जान॥

भक्ति व ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम है।

अव, जीवनमे परम भक्तिका सचार हो गया, तो फिर जो कर्म होगा वह भक्ति व ज्ञानसे अलग नही रहता। कर्म, भक्ति व ज्ञान मिलकर एक ही रमणीय रूप वन जाता है। इस रमणीय रूपसे अद्भुत प्रेममय ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है। मा पर प्रेम है, किंतु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता, खपता रहता है, सेवा-रूपमें व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहा आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौनसी सेवा प्रिय है, या प्रिय होगी इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए; नही तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा हो रहेगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्यद्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है; परतु उसके मूलमें प्रेम होना चाहिए। वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी, वेकार हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे जुदा होता है। खेतसे थके-मादे आये लडकेपर मा सहज प्रेमकी दृष्टि डालती है व कहती

है—"बेटा, थक गये हो ?" परन्तु इस छोटेसे कर्ममें, देखिए तो कितना सामर्थ्य है। अपने जीवनके समस्त कर्मोंमें ज्ञान व भक्तिको ओत-प्रोत कीजिए। यही पुरुषोत्तम-योग कहलाता है।

[८७]

यह सब वेदोका सार है। वेद अनन्त है; परतु उन अनत वेदोका सार-सक्षिप्त यह पुरुषोत्तम-योग है। यह वेद है कहा ? वेदोकी बात विचित्र है। वेदोका सार है कहा ? अध्यायके आरभमे ही कहा है—"पत्र हैं जिसके वेद।" भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमे भरे हुए है। वेद उन सहिताओमें, आपके ग्रथो व पोथियोमें छिपे हुए नही है। वह विश्वमें सर्वत्र फैले हुए, छाये हुए है। शेक्सपीयर क्या कहता है—

"बहते हुए झरनोमें सद्ग्रथ मिलते है, पत्थरो-चट्टानोमे प्रवचन सुनाई पडते है।" मतलब यह कि वेद न सस्कृतमें है, न सहिताओमें, वे सृष्टिमे है। सेवा करो तो वे दिखाई देंगे। "प्रभाते करदर्शनम्"। सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथमे भरे है। वह वेद कहता है "सेवा करो" कल हाथने काम किया था या नही, आज करने योग्य है या नही, उसमें कामके निशान हुए है या नही, यह देखिए। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है तो फिर ब्रह्मलिखित खुलता है, पढा जा सकता है। यह अर्थ है "प्रभाते करदर्शनम्" का।

पूछते है, वेद कहा है ? भाई, तुम्हारे हाथोमें ही तो है। शकराचार्यके लिए कहते है कि, उन्हे आठवें साल ही सारे वेदोका ज्ञान हो गया था। बेचारे शंकराचार्य तो थे मद बुद्धि। उन्हे आठ साल लग गये ! परतु हमें-तुम्हे तो जन्मत ही वे प्राप्त है। आठ सालकी भी क्या जरूरत ? मैं खुद ही जीता-जागता वेद हू। अबतककी सारी परपरा मुझमे आत्म-सात हुई है। मै उस परपराका फल हू। उस वेद-बीजका जो फल है वही तो मैं हूं। अपने फलमें मैंने अनत वेदोका बीज सचित कर रखा है। मेरे उदरमें वेद पाच-पचास गुना बडे हो गये है। साराश, वेदोका सार हमारे हाथोमें है। सेवा, प्रेम व ज्ञान इनकी नीवपर हमें जीवन रचना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोमें है। मै जो अर्थ करूगा वही वेद होगा,

वेद कही बाहर नही है। सेवा-मूर्ति सत कहते हैं—"वेदोका जो अर्थ जानें एक हमी।" भगवान् बता रहे है—"सारे वेद मुझे ही जानते हैं। मैं ही सब वेदोका अर्क, सार पुरुषोत्तम हूँ।" यह जो वेदोका सार, पुरुषोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात कर सकें तो कितनी बहार हो! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करेगा, गीता सुझाती है कि उसमेंसे मानो वेद ही प्रकट हो रहे है। इस अध्यायमें सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्ण-रूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमें उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या?

रविवार, २९-५-३२

सोलहवां अध्याय

[८८]

गीताके पहले पाच अध्यायोमें हमने जीवनकी सारी योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते है, यह देखा। उसके वाद छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवेमें भक्तिका दर्शन हुआ। वारहवेंमें सगुण व निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान् लक्षणोको जाना। वारहवें अध्यायके अततक कर्म व भक्ति इन दोनो तथ्योकी छानवीन हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसको हमने तेरह, चौदह व पद्रहवें अध्यायोमें देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना व उसके लिए तीनो गुणोको जीतकर अतमें सर्वत्र प्रभुको देखना। पंद्रहवें अध्यायमें जीवनका सपूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुषोत्तम-योगमें जीवनकी पूर्णता होती है। उमके वाद फिर कुछ वाकी नही रहता।

कर्म, ज्ञान व भक्ति, इनकी पृथक्ता मुझे सहन नही होती। कुछ साधकोकी अपनी निष्ठा ऐसी होती है कि उन्हे सिर्फ कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके स्वतन्त्र मार्गकी कल्पना करते है और उसीपर सारा जोर देते है। कुछ लोगोका झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवन के मानी केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल'-वाद मुझे माननेकी इच्छा नही होती। इसके विपरीत कर्म, भक्ति व ज्ञानके योग-रूप समुच्चय-वादको भी मै नही मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान व कुछ कर्म ऐसा उपयोगितावाद भी मुझे नही जचता। पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान इस तरहके क्रमवादको भी मै नही स्वीकारता। तीनो चीजोका मेल मिलाया जाय, इस तरहका सामजस्य-वाद भी मुझे मजूर नही है। मुझे तो यह अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है, वही भक्ति है और वही

ज्ञान है। बर्फीके एक टुकडकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन ये बातें अलग-अलग नही है। जिस क्षण हम बर्फीका टुकडा मुहमें डालते है उसी क्षण उसका आकार भी हमने खा लिया, उसका वजन भी पचा लिया और उसकी मिठास भी चख ली। तीनो बातें एकत्र एक साथ है। बर्फीके प्रत्येक कणमें आकार, वजन व मधुरता है। यह नही कि उसके एक टुकडेमें केवल एक आकार है, दूसरेमें कोरी मिठास है, व तीसरेमें सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परमार्थ भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय व ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके सब अग-प्रत्यगमे कर्म, भक्ति व ज्ञान भरा रहना चाहिए; इसे पुरुषोत्तम-योग कहते है। सारे जीवनको एक परमार्थमय ही कर डालना—यह बात कहनेमें तो बडी आसान है, परतु इस उच्चारमें जो भाव है, उसका यदि विचार करने लगें तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अत करणमें शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति व ज्ञान अक्षरश: एक रूप हैं, इस परम दशाको पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। यहा जीवनकी अतिम सीमा आगई।

अब, आज इस सोलहवे अध्यायमें क्या कहा गया है? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी तरह जीवनमें कर्म, भक्ति व ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्गुणोकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभा का वर्णन इस सोलहवें अध्यायमें किया गया है। किस अधकारसे झगड कर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। किसी चीजके सबूतके तौरपर हम कुछ चीजोकी माग करते हैं। सेवा, भक्ति व ज्ञान हमारे जीवनमे आ गये है, यह कैसे जाना जाय? खेतपर हम मिहनत करते है, तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नापकर घर ले आते है। इसी तरह हम जो साधना करते है, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्वृत्तिया गहरी पैठी, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ, इसकी जाच करनेकी ओर यह अध्याय सकेत करता है। जीवनकी कला कितनी बढी व चढी है, इसे नापने के लिए यह अध्याय कहता है। जीवनकी इस वृद्धिमती कलाको गीता

दैवी-संपत्ति कहती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियां हैं, उन्हें आसुरी कहा है। सोलहवें अध्यायमें दैवी व आसुरी संपत्तियोंका संघर्ष वताया गया है।

[८९]

जिस तरह पहले अध्यायमें एक ओर कौरव-सेना व दूसरी ओर पांडव-सेना आमने-सामने खड़ी की है, उसी तरह यहां सद्गुण रूपी दैवी सेना व दुर्गुण-रूपी आसुरी सेना एक-दूसरेके सामने खड़ी की है। वहुत प्राचीन-कालसे मानवी मनमें सदसत्-प्रवृत्तियोंका जो झगड़ा चलता है, उसका रूपकात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड़ गई है। वेदमें इंद्र व वत्र, पुराणों-में देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियोंके धर्मग्रन्थोंमें अहुर-मज्द और अहरिमान, ईसाई मजहवमें प्रभु व शैतान, इस्लाममें अल्लाह व इब्लीस—इस तरहके झगड़े सभी धर्मग्रन्थोंमें आते हैं। काव्यमें स्थूल विषयोंका वर्णन सूक्ष्म वस्तुओंके रूपकोंके द्वारा किया जाता है तो धर्म-ग्रंथोंमें सूक्ष्म मनोभावनाओंका वर्णन उन्हें चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्यमें स्थूलका सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है तो यहां सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह सूचित नहीं करना है कि गीताके आरंभमें जो युद्धका वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परंतु कवि यहां उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्तव्यके विषयमें जव मनमें मोह पैदा हो जाता है तव मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह वात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझाई गई है। इस सोलहवें अध्यायमें भलाई व वुराईका झगड़ा वताया गया है। गीतामें युद्धका रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र वाहर भी और हमारे भीतर भी है। वारीकीसे देखा जाय तो जो झगड़ा हमारे मनमें होता या रहता है, वही हमें वाहरी जगत्मे मूर्तिमान् दिखाई देता है। वाहर जो मुझ अपना शत्रु खड़ा दीखता है, वह मेरे ही मनका विकार साकार-रूप होकर खड़ा है। आइनेमें जिस प्रकार मेरा ही वुरा-भला प्रतिविंव मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके वुरे-भले विचार मुझे वाहर शत्रु-मित्रके रूपमें दिखाई देते हैं। जैसे हम जागृतिमें स्वप्नको देखते हैं, उसी तरह जो हमारे मनमें है, वही हम वाहर

देखते है। भीतरके व बाहरके युद्धमे कोई फरक नही है। सच पूछिए तो असली युद्ध तो भीतर ही होता है।

हमारे अत.करणमें एक ओर सद्गुण तो दूसरी ओर दुर्गुण खडे है। उन्होने अपनी-अपनी व्यूह-रचना ठीक-ठीक कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, वैसे यहा भी सद्गुणोने एक सेनापति बना रक्खा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमें 'अभय' को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नही है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना अभयके कोई भी गुण पनप नही सकता। सच्चाईके बिना सद्गुणका कोई मूल्य नही है। किंतु सच्चाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमें सद्गुण फैल नही सकते; बल्कि उसमे वे भी दुर्गुण बन जायगे, सत्प्रवृत्तिया भी कमजोर पड जायगी। निर्भयता सब सद्गुणोका मुख्य नायक है; परतु सेनाको आगे-पीछे दोनो तरफ सभालना पडता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परतु पीछेसे चुपचाप चोर हमला भी हो सकता है। सद्गुणोके सामने 'अभय' खम ठोककर खडा है तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बडी बढिया रक्षा की गई है। यहा कुल छब्बीस गुण बताये गए है। इनमे ये पच्चीस गुण प्राप्त हो गये व यदि कही उसका अहकार हो गया तो पीछेसे एकाएक चोर-हमला होकर सारी कमाई खो जानेका भय है। इसलिए पीछे 'नम्रता' के सद्गुणको रक्खा गया है। यदि नम्रता न हो तो यह जय कब पराजयमें परिणत हो जायगी, यह ध्यानमे नही आयगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' व पीछे 'नम्रता' को तैनात करके सब सद्गुणोका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणोके बीचमे जो चौबीस गुण रखे गये है, वे करीब सब अहिंसाके ही पर्यायवाची है ऐसा कहे तो अनुचित नही। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम है। अहिंसा व सत्य इन दो गुणोमे सब सद्गुणोका समावेश हो जाता है। सब सद्गुणोका यदि सक्षेप किया जाय तो अतमें अहिंसा और सत्य, येही दो बाकी रह जायगे। शेष सब सद्गुण इनके उदरमे समा जायगे; परतु निर्भयता और नम्रताकी बात जुदा है। निर्भयतासे प्रगति की जा सकती है,

व नम्रतासे बचाव होता है। (निर्भयता सत्यका व नम्रता अहिंसाका प्रतीक है।) सत्य व अहिंसा इन दो गुणोकी पूंजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढते रहना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें हमें बेरोक सचार करते चले जाना चाहिए। पाव इधर-उधर गलत न पड जाय, इसके लिए नम्रताके साथ रहनेसे फिर कोई खतरा नही रह जाता। अब शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए चले जाइए। तात्पर्य यह कि सत्य व अहिंसाका विकास निर्भयता व नम्रताके द्वारा होता है।

इस तरह एक ओर जहा सद्गुणोकी फौज खडी है, तहा दूसरी ओर दुर्गुणोकी भी तैयार है। दभ, अज्ञान आदि दुर्गुणोके सबधमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है। इनसे हमारा नित्यका परिचय है। दम्भके तो जैसे हम आदी हो गये है। सारा जीवन ही मानो दमकी बुनियाद-पर खडा किया गया है। अज्ञानके बारेमें कहा जाय तो वह एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम कदम-कदमपर आगे कर देते है। मानो अज्ञान कोई बडा गुनाह ही न हो। परतु भगवान् कहते है—"अज्ञान पाप है।". सुकरातने इसने उलटा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमें उसने कहा—"जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञानको तुम सजा कैसे दोगे ?" परन्तु भगवान् कहते है, "अज्ञान भी पाप ही है।" कानूनमें कहा है कि कानूनका अज्ञान सफाईकी दलील नही हो सकती। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बडा अपराध है। भगवान्के व सुक-रातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान् बताते है तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पाप क्षमा करने चाहिए, परतु खुदके अज्ञानको भी क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान तो हमें जरा भी शेप न रखना चाहिए।

[९०]

इस तरह एक ओर दैवी सपत्ति व दूसरी ओर आसुरी सपत्ति—ऐसी दो सेनाए खडी है। इसमेंसे आसुरी सपत्तिको छोटना व दैवीको

पकड लेना चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंका विकास अनादि कालसे होता चला आया है। बीचमें जो काल गया, उसमें भी बहुत-कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी बहुत विकास बाकी है। विकासकी मर्यादा खतम हो गई हो, सो बात नही। जबतक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तबतक विकासके लिए हमें अनंत अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो गया तो भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासका खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखो व्यक्तियोके विकासकी शुरुआत करनी होती है। जैसे मानव द्वारा अहिंसाका विकास अनादि कालसे हो रहा है, तो भी, आज भी, वह विकास-क्रिया जारी ही है।

अहिंसाका विकास किस तरह होता गया, यह देखने लायक है। इससे यह समझमें आ जायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोंके हमलेसे कैसे बचाव किया जाय? शुरूमें समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय वर्ग बनाया गया; परतु वह आगे जाकर समाज-भक्षण करने लगा। तब इन उन्मत्त क्षत्रियोसे समाजका बचाव कैसे किया जाय, यह विचार अहिंसक ब्राह्मण करने लगे। परशुरामने खुद, अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलबन किया व क्षत्रियोका वे विनाश करने लगे। क्षत्रियोंसे हिंसा छुडानेके लिए वे स्वत. हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग था; परतु वह सफल नही हुआ। इक्कीस बार क्षत्रियोका संहार उन्होने किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे; क्योकि यह प्रयोग मूलमें ही गलत था। जिन क्षत्रियोको नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रिय बढ गया। तो फिर वह क्षत्रिय वर्ण नष्ट कैसे होता? खुद ही हिंसक क्षत्रिय बन गया। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर जो झाड-पेड तोडता है, उसे वे पेड पुन.-पुन. पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी। परंतु उनका प्रयोग बडा विचित्र हुआ। स्वत. क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीको नि क्षत्रिय बनाना चाहते थे। सच तो यह कि उन्हे खुदसे ही प्रयोग शुरु करना चाहिए था। उन्हे चाहिए था कि पहले वे खुद अपना ही सिर

उड़ा देते; परंतु मैं जो यहां परशुरामका दोष दिखा रहा हूं, सो इस खयाल से नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मैं तो बच्चा हूं, परंतु उनके कंधेपर खड़ा हूं, इसमें मुझे अनायास अधिक दूर दिखाई देता है। परशु-रामके प्रयोगकी बुनियाद ही गलत थी। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना संभव नहीं। इससे उल्टे हिंसकोंकी संख्या अलबत्ते बढ़ती है। परंतु उस समय यह बात ध्यानमें नहीं आई। उस समयके भले-भले आदमियोंने, महान् अहिंसामय लोगोंने जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होंने हिंसाका अवलंबन किया था।

किंतु वह प्रयोग असफल हो गया। बादमें रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोंने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी। उन्होंने निश्चय किया था कि हम खुद तो हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसोंके आक्रमणसे बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो हैं ही। उन्हींसे राक्षसोंका संहार करा डालना चाहिए। कांटेसे कांटा निकाल डालना चाहिए। हम खुद अपने अलग-थलग बने रहें। सो विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोंका संहार करवाया। आज हम ऐसा विचार करते हैं कि जो अहिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पांव नहीं हैं ऐसी लंगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी? परंतु वसिष्ठ-विश्वामित्र जैसोंको क्षत्रियके बलपर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परंतु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो? विश्वामित्रने कहा होता, "मैं मर भले ही जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा।" क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा करनेका प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चित हो ही चुका था कि खुद अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। कोई क्षत्रिय यदि नहीं मिला, तो अहिंसक मर जाना पसंद करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। विश्वामित्रके साथ जाते हुए राम पूछते हैं—"ये ढेर किस चीजके हैं?" विश्वामित्र ने कहा—"ये ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्र-मणकारी हिंसक राक्षसोंका प्रतिकार न किया। वे मर मिटे। उन्हींकी

हड्डियोंके ये ढेर है।" इस अहिंसामें ब्राह्मणोका त्याग तो था; परतु साथ ही दूसरोंसे अपने सरक्षणकी अपेक्षा वे रखते थे। ऐसी दुर्बलताके रहते हुए अहिंसा पूर्णताको नही पहुच सकती थी।

आगे तीसरा प्रयोग सतोने किया। उन्होने तय किया—"हम अपने बचावके लिए दूसरोकी सहायता कदापि नही लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" इनका यह प्रयोग व्यक्ति-निष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होने पूर्णताको पहुचा दिया, परतु आखिर रहा यह व्यक्तिगत ही। समाजपर यदि हिंसक लोगोंके हमले होते व समाज सतोसे आकर पूछता कि 'अब क्या करें' तो शायद सत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमें परिपूर्ण अहिंसा ले आनेवाले वे सत समाजको यही जवाब दे पाते—"भाई, हम लाचार है।" सतोकी इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल-साहस है, परतु उनके कधेपर बैठकर मुझे जो-कुछ दीखता है वही मै बता रहा हूं। वे मुझे इसके लिए क्षमा करे और वे कर भी देंगे। क्योकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसाके साधन द्वारा सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हे प्रेरणा न हुई हो, ऐसा नही कह सकते, लेकिन उस समय की परिस्थिति उन्हे शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये; परतु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोसे शास्त्र बनता है।

सतोके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे है। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनके द्वारा हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए है। प्रत्येक प्रयोगमें अपूर्णता थी व है। विकास-क्रममें यह बात अपरिहार्य ही है। परतु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे, और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमे भी बहुत कुछ हिंसाका भाग दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेगे। ज्ञान, कर्म व भक्तिका ही नही, तमाम सद्गुणोका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है। परतु व्यक्ति और समुदायके जीवनमें अभी उनका पूर्ण विकास होना

बाकी है। वचनोंका भी विकास होता है। ऋषि मन्त्रोंके दृष्टा समझे जाते थे, कर्त्ता नहीं, क्योंकि उन्हें मन्त्रोंका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है, तो वह हमारी विशेषता नहीं है; क्योंकि उन्हींके आधारपर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहां जो अहिंसाके ही विकासकी बात कर रहा हूं वह इसलिए कि यदि हम सब सद्गुणोंका साधारण रूपसे सार निकालें तो वह 'अहिंसा' ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमें ही पड़े हुए हैं। अतः मैंने बताया कि इस तत्वका विकास कैसे हो रहा है।

[९१]

अबतक हमने अहिंसाका एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकोंके हमले हों तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें? व्यक्तियोंके पारस्परिक झगड़ों-में अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। लेकिन झगड़ा तो मनुष्य व पशुमें भी हो रहा है। मनुष्य अभीतक अपने आपसके झगड़े मिटा नहीं पाया है, व पशुको पेटमें ठूंसकर वह जी रहा है। अपने झगड़े वह अभीतक मिटा नहीं पाता है, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओं —जीवोंको खाये बिना वह जी नहीं सकता है। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जीया जाय, इसका विचार अभीतक मनुष्यने नहीं किया। मनुष्य मनुष्यकी तरह नहीं जी सकता, परन्तु इस बातका भी विकास हो रहा है। एक समय था जब मनुष्य केवल पशुओंपर ही अपना निर्वाह करता था। परन्तु जो उत्तम व बुद्धिमान लोग थे, उन्हें यह नहीं जचा। उन्होंने यह पाबन्दी लगाई कि यदि मांस ही खाना हो तो यज्ञमें बलि दिये गये पशुओंका ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसाकी रोक हो। कइयोंने तो पूर्ण रूपसे भी मांस छोड़ दिया, परन्तु जो पूरा-पूरा मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गई कि वे उस यज्ञमें परमेश्वरको अर्पण करके, कुछ तपस्या करके फिर खावें। उस समय यह समझा गया था कि 'यज्ञमें ही मांस खा सकते हैं'. ऐसी पाबन्दी लगा देनेसे हिंसा रुक जायगी; परन्तु बादमें यज्ञ एक रोजमर्राकी चीज हो गया। जिसके

जीमें आता, वही यज्ञ करने लगा और मास खाने लगा। तब भगवान् बुद्ध कुछ आगे बढे। उन्होने कहा—"तुम्हे मास खाना हो तो खाओ, परतु निदान भगवान्‌का नाम लेकर तो मत खाओ।" इन दोनो वचनोका, हेतु एक ही था—हिंसाकी रोक हो, गाडी किसी-न-किसी तरह सयमके मार्गपर आवे। यज्ञयाग करो या न करो—दोनोसे हमने मासाशन त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मास खानेसे परहेज करने लगे।

ससारके इतिहासमे अकेले भारतवर्षमे ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोडो लोगोने मास खाना छोड दिया और आज हम मास नही खाते है, इसमें हमारी कोई बडाई नही है। पूर्वजोकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गये है; परतु पहलेके ऋषि मास खाते थे, ऐसा यदि हमने कहा या पढा तो हमें आश्चर्य मालूम होता है। "क्या बकते हो? ऋषि और मास खाते थे? कभी नही।" परतु मासाशन करते हुए उन्होने सयम करके उसका त्याग किया है। इसका श्रेय उनको है। उन कष्टोका अनुभव आज हमें नही होता। उनकी पुण्याई धरी-धराई हमे मिल गई। भवभूतिके उत्तर रामचरित में एक प्रसग आया है। वाल्मीकि आश्रममें वसिष्ठ ऋषि आये तब उनके स्वागतमें एक छोटा गायका बछडा मारा गया। तो एक छोटा लडका बडे लडकेसे पूछता है—"आज हमारे आश्रममें एक दाढीवाला शेर आया है। उसने हमारा बछडा खा डाला न?" बडा लडका जवाब देता है—"हट, वे तो वसिष्ठ ऋषि है। ऐसा मत बको।" पहले वे मासाशन करते थे और आज हम नही करते हैं—इसका अर्थ यह नही, कि हम आज उनसे बडे हो गये है। उनके अनुभवका लाभ हमें अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमे दूध बिलकुल ही छोड देनेका भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्यका अन्य जीवोका दूध पीना भी है तो अनुचित ही। दस हजार साल आगे आनेवाले लोग हमारे विषयमें कहेगे—"क्या हमारे पूर्वजोको दूध न पीनेका व्रत लेना पडा था? राम-राम, वे दूध कैसे पीते होगे? ऐसे वे जगली थे?" मतलब यह कि हमें निडर होकर, लेकिन नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरतर आगे बढते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी

बहुत गुंजाइश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नही हो पाया है।

[९२]

हमें दैवी संपत्तिका विकास करना है व आसुरी संपदासे दूर रहना है। आसुरी संपत्तिका वर्णन भगवान्‌ने इसीलिए किया है कि हम उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य है। असुरोंके चरित्रका सार 'सत्ता, संस्कृति व संपत्ति' इनमें है। वे कहते है—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसारपर लादी जाय। हमारी ही संस्कृति क्यो लादी जाय ? तो कहते हैं—वही सबसे अच्छी है। अच्छी क्यों है ? क्योंकि वह हमारी है। चाहे आसुरी व्यक्ति हो, चाहे उनसे बने साम्राज्य हो, उनके लिए ये तीन चीजें आवश्यक है।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते है कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोंमे भरा हुआ है। वैदिक संस्कृतिकी विजय सारी दुनियामें होनी चाहिए। 'अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठत सशर धनु'— इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वी पर अपनी संस्कृतिका झंडा फहराओ परंतु पीठपर जहा 'सशर धनु' रहा तो फिर आगे हाथमे रक्खे बेचारे वेदोंका खातमा ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते है कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते है। दूसरे मजहबका आदमी कितना ही उच्चकोटिका क्यो न हो, वह जबतक ईसा मसीहपर विश्वास नही लाता, तबतक वह स्वर्गमें नही जा सकता। भगवान्‌के मंदिरका उन्होंने सिर्फ एक ही दरवाजा रक्खा है, वह है ईसामसीहवाला। लोग तो अपने-अपने घरोंमें अनेक दरवाजे व खिड़किया लगाते है; परंतु बेचारे भगवानके मंदिरका सिर्फ एक ही दरवाजा वे रखते है।

"मैं ही कुलीन श्रीमंत, मेरी जोड़ कहीं नहीं।"

यही सब मानते है। मै कौन ? तो भारद्वाज-कुलका। मेरी यह परंपरा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोंका है। हमारी नसोंमें, कहते है, नॉर्मन लोगोंका खून बहता है ! हमारे यहा गुरु-परंपरा है न। मूल आदि गुरु है शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई,

फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमें दस-पाच नाम आते है, बादमें अपन गुरुका नाम व फिर मैं—ऐसी परंपरा बताई जाती है। इस वंशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम बडे, हमारी सस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी सस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है तो उसे आपके आचरणमें दीखने दो न! उसकी प्रभा आपके जीवनमें फैलने दो न! परतु ऐसा नही होता। जो सस्कृति खुद हमारे जीवनमें नही है, हमारे घरमें नही है, उसे ससारभरमें फैलानेकी आकाक्षा रखना—इस विचार-सरणिको आसुरी कहते है।

फिर, जैसे मेरी सस्कृति सुदर, बढिया है, वैसे ही यह विचार भी है कि संसारकी सारी सपत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हू। ससारकी सारी सपत्ति मुझे चाहिए व मै उसे प्राप्त करके ही रहूंगा। यह सपत्ति प्राप्त किसलिए करू? तो सबमें समान रूपसे बाटनेके लिए इसके लिए मै स्वत· अपनेको धन सपत्तिमें गाड लेता हू। अकबरने यही तो कहा था—"ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमें क्यो नही शरीक होते? एक बड़ी सल्त· नत हो जाय तो दुनियामें अमनोअमान कायम हो जायगा।" वह सचमुच ईमानदारीसे ऐसा मानता था। वर्तमान असुरोकी भी ऐसी ही धारणा है। दुनिया भरकी सपत्ति बटोरी क्यो जाय? उसे फिर सबमें बाटनेके लिए!

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथमें केन्द्रीभूत होनी चाहिए। सारी दुनिया मेरे तन्त्रमे आ जानी चाहिए। स्व-तत्र—मेरे तत्र—के अनुसार चलनी चाहिए। जो कुछ मेरे अधीन होगा, जो मेरे तन्त्रसे चलेगा वही स्व-तत्र। इस तरह सस्कृति, सत्ता व संपत्ति, इन तीन मुख्य बातोपर आसुरी सपत्तिमें जोर दिया जाता है।

एक समय ऐसा था, जब समाजमें ब्राह्मणोका प्रभुत्व था। वे शास्त्रोकी कानूनकी रचना करते थे। राजा उन्हे बडा मानता था। वह युग बदला। क्षत्रियोका युग आया। घोडे छोडे जाने लगे, दिग्विजय होने लगे। यह क्षत्रिय-सस्कृति भी आई व चली गई। ब्राह्मण कहता—"मै विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन?" ब्राह्मणोको अपनी सस्कृतिका अभिमान था। क्षत्रियोका जोर सत्तापर था—"आज इसे मारा, कल उसे मारूगा।" इस बातपर उनका सारा जोर रहता था। फिर

वैश्योंका युग आया। उनका सारा तत्वज्ञान यही है—"पीठपर मारो, पर पेटमें मत मारो"। इसमे वैश्यो का सारा तत्त्वज्ञान है, पेटकी सारी अक्ल। "यह धन मेरा, और वह भी मेरा हो जायगा।" यही जप और यही सकल्प। अग्रेज हमें कहते है न—"स्वराज्य चाहिए तो ले लो; परंतु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहूलियते हमे दे दो, फिर भले ही आप अपनी सस्कृतिका अध्ययन करते रहिये। लगोटी लगाओ और अपनी सस्कृतिको लिये बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते है, वे व्यापार के लिए ही। यह युग भी जायगा, जानेकी शुरुआत भी हो गई है। इस तरह ये सब आसुरी सपत्तिके प्रकार है।

[९३]

हम आसुरी सपत्तिको दूर हटाते रहे। थोडेमें कहे तो आसुरी सपत्तिका अर्थ है "काम, क्रोध, लोभ।" येही तीनो सारे ससारको नचा रहे है। अब इस नाचको खतम करो। इससे हमे बाज आना ही चाहिए। क्रोध व लोभ कामकी बदौलत पैदा होते है। कामके अनुकूल परिस्थिति पैदा होनेसे लोभ पैदा होता है व प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामें हर कदमपर यह कहा है कि इन तीनोंसे बचते रहो। सोलहवे अध्यायके अत में यही कहा है—काम-क्रोध-लोभ, येही नरकके तीन बडे फाटक है। इनमें बहुत राहदारी होती है। अनेक लोग आते-जाते है। नरकका रास्ता खूब चौडा है। उसमे मोटरें चलती है, बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते है, परन्तु सत्यकी राह सकडी है।

तो अब, इन काम-क्रोध-लोभसे बचें कैसे ? सयम-मार्ग अगीकार करके। शास्त्रीय सयमका पल्ला पकड लेना चाहिए। सतोका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव सतोको हुए, उन्हीसे शास्त्र बनता है। सो इस सयम-सिद्धातका हाथ पकडो। फजूल शका-कुशका मत रक्खो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शका मत लाइए कि यदि काम-क्रोध उठ गये तो फिर दुनियाका क्या हाल होगा, वह तो चलनी ही चाहिए, काम-क्रोध थोडे भी न रहने चाहिए ? मेरे भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर है। आपको जितने चाहिए, उससे भी कही ज्यादा है। फिर

क्यो व्यर्थमें बुद्धि-भेद पैदा करते है ? काम-क्रोध-लोभ आपकी चाहसे इंच भर अधिक ही दुनियामें है। यह चिंता मत रखिए कि काम मर जायगा तो संतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही सतति पैदा कीजिए, एक दिन ऐसा आने ही वाला है, जब पृथ्वीपरसे मनुष्यका नाम-निशान एकदम मिट जायगा। शास्त्रज्ञोका, विज्ञानियोका ऐसा कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यंत उष्ण थी। तब उसपर जीवधारी नही रहते थे। जीव पैदा ही नही हुआ था। अब एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी अत्यंत ठंडी हो जायगी व सारी जीव सृष्टिका लय हो जायगा। इस बातको लाख साल लग जायंगे। आप कितनी ही सतान वृद्धि क्यो न करें, अंतको यह प्रलय निश्चित रूपसे आने ही वाला है। परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-सरक्षणके लिए, संख्या-सरक्षणके लिए नही। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु व सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिंता नही। उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिसका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारो लोग रहे तो क्या व न रहें तो क्या, दोनो एक-से हैं।

इस बातपर ध्यान रखकर सृष्टिमें ढंगसे रहिये, सयमसे चलिए। सीमा छोड़कर बेतहाशा मत भागिए। लोक-संग्रहका अर्थ यह नही कि लोग जैसा कहें वैसा किया जाय। मनुष्योका संघ बढाते जाना, सपत्तिका ढेर इकट्ठा करते जाना—यह सुधार नही है। विकास संख्यापर अवलंबित नही है। समाज यदि बेशुमार बढने लगेगा तो लोग एक-दूसरे का खून करने लग जायगे। पहले पशु-पक्षियोको खाकर मनुष्य मस्त बनेगा। फिर अपने लडके-बच्चोको खाकर रहना पडेगा। काम-क्रोध-में कुछ सार है, यह बात यदि मान लें तो फिर अंतमें मनुष्य मनुष्यको फाड खायगा इसमें तिलमात्र सदेह नही है। लोक-संग्रहका अर्थ है सुदर व विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जाने पर यदि मनुष्यका लोप पृथ्वीसे हो जायगा, तो आप चिंता न करें वह मंगल (ग्रह) मे उत्पन्न हो जायगा। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है। वह हमारी चिंता कर लेगा। अत. पहले हम मुक्त हो लें। आगे बहुत दूर देखनेकी जरूरत नही है। सारी सृष्टि व मानव-जातिकी चिंता मत करो।

तुम अपनी नैतिक शक्तिको बढाओ, काम-क्रोधका पल्ला झाड़कर फेंक दो। "अपना तो गला लो पहले छुडा।" तुम्हारी गर्दन जो फंस रही है, पहले उसे तो छुडा लो। इतना कर लिया तो बहुत काम बन गया।

संसार समुद्रसे दूर किनारे खडे रहकर समुद्रकी मौज देखनेमें आनद है। जो समुद्रमें डूब रहा है, जिनकी आख-नाकमें पानी भर गया है, उसे समुद्रमें क्या आनद है? संत समुद्र-तटपर खडे रहकर आनद लूटते है। ससारमें अलिप्त रहनेकी इस सतवृत्तिका जीवनमें सचार हुए विना आनद नही हो सकता। अतः कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है, "संत महान् पर्वत के शिखरपर खडे रहकर नीचे ससारकी ओर देखते है, तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढकर देखिए तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर ससारमें मन ही नही लगेगा।

साराश, भगवान्ने इस अध्यायमें आग्रह-पूर्वक कहा है कि आसुरी संपत्तिको हटाकर दैवी संपत्ति प्राप्त करो। आइए, हम ऐसा ही यत्न करें।

रविवार ५-६-३२

सत्रहवां अध्याय

[१४]

प्यारे भाइयो, हम धीरे धीरे सिरेतक पहुचते आ रहे है। पन्द्रहवें अध्यायमें हमने जीवनके सपूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवें अध्याय-में एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमें, और उसके मनके प्रतिबिब-स्वरूप समाजमें, दो वृत्तिया, दो सस्कृतियो अथवा दो सपत्तियोका झगडा चल रहा है। इनमेंसे हमें दैवी सपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा हमें सोलहवें अध्यायके परिशिष्टमें मिली है। आज सत्रहवें अध्याय में हमें दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इसमें कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रमकी सूचना कर रही हैं। आजके अध्यायमें हमे नित्य क्रिया पर विचार करना है।

अगर हम चाहते है कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे तो हमें अपने व्यवहारका एक क्रम बाध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्य-क्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है जब कि हमारा जीवन उस मर्यादामे और उस निश्चित निय-मित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छदतासे बहती है; परतु उसका प्रवाह बधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुपका उदाहरण अपनी आखोंके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषो-का आचार्य है। भगवान्ने पहले-पहल कर्म-योग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्य से मनुको—अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतन्त्र और मुक्त है। वह नियमित "—इसीमें उसकी स्वतन्त्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि अगर हमें एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है, तो रास्ते की ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते है। यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते

निकालते रहेंगे तो सारा ध्यान इन रास्तोंमें ही लगाना पडेगा। फिर मनको मुक्तता नहीं मिल सकती। मतलब यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बाध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा मालूम न हो, बल्कि आनदमय प्रतीत हो।

इसलिए भगवान् इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम पैदा होते ही तीन सस्थाए साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनो सस्थाओका कार्य भली-भाति चलाकर अपना ससार सुखमय बना सके, इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बनाती है। वे तीन सस्थाएं कौन-सी है? पहली संस्था है—हमारे आस-पास लपेटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आस-पास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्मांड—यह अपार सृष्टि, जिसके कि हम एक अंश है। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्म की प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अडोसी-पडोसी—यह हुई तीसरी सस्था। हम रोज इन तीन सस्थाओका उपयोग करते है—इन्हे छिजाते है। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन सस्थाओमें जो छीजन आती है उनकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपने जीवनको सफल बनावे। इन सस्थाओके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्त्तव्य हमे निरहकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्तव्योंको पूरा तो करना है; परतु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित है, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते है। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और इन्हे अपने जीवन में समाविष्ट करें तो ये संस्थाए सफल हो जाय और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

[९५]

इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि यज्ञका अर्थ क्या है। सृष्टि-सस्थासे हम प्रति दिन काम लेते है। अगर सौ आदमी एक जगह रहते है तो दूसरे दिन वहाकी सारी सृष्टि दूषित दिखाई देने लगती है। वहाकी हवा हम दूषित कर देते है, जगह गदी कर देते है। अन्न खाते

हैं और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि संस्थाकी इस छीजनकी हमें पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-संस्थाका निर्माण हुआ है। यज्ञका उद्देश्य क्या है? सृष्टिकी जो हानि हो गई है, उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—'पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो; जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो। उसमें खाद डालो।" छीजनकी पूर्ति करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है, उपयोगमें लाई हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएंका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गंदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएंके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गई है, उसे शुद्ध करना चाहिए। वहांका गंदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड़ दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहां कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए। यह तीसरी बात भी यज्ञके अन्तर्गत है। हमने कपड़ा पहना। तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमें जो-कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्तव्य भावना उसमें होनी चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं। जन्मतः ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते हैं। इस ऋणको चुकानेके लिए हमें जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवाके जरिये हमें अपना कर्ज चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि संस्थाका उपयोग करते हैं। अतः उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए व नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमें यज्ञ करनेकी जरूरत है।

दूसरी संस्था है हमारा मनुष्य-समाज। मां-बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दान-की व्यवस्था की गई है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस संसारमें आया, तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है। इसलिए मुझे समाजकी सेवा

करनी चाहिए। परोपकार कहते हैं दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परंतु यहा तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय, वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे बढनेमें मदद करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरा करनेके लिए जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

इसके अलावा एक तीसरी सस्था और है। वह है शरीर। शरीर भी दिन प्रति दिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इद्रिय—सबसे काम लेते हैं—इनको छिजाते हैं। इस शरीर-रूपी सस्थामें जो विकार, जो दोष उत्पन्न हो, उनकी शुद्धिके लिए तप बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर, इन तीनो सस्थाओंका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य सस्थाए निर्माण करते हैं, परतु ये तीन सस्थाए हमारी बनाई हुई नही है। ये तो स्वभावत ही हमको मिल गई है। ये सस्थाएं कृत्रिम नही है। अत इन तीन सस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चलें तो जो कुछ शक्ति हमारे अदर है, वह सारी इसमें लग जायगी। अन्य बातोंके लिए और शक्ति बाकी ही नही बचेगी। सृष्टि, समाज और यह शरीर, इन तीनो सस्थाओं को समुचित रखनेके लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पडेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें कि "हे प्रभो, तूने मुझे जैसी चादर दी थी, वैसी ही मैं लौटाकर जा रहा हूं, तू इसे अच्छी तरह सभालकर देख ले—" तो वह कितनी बडी सफलता है! परंतु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान व तप यह त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें पूरा करना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपको हमने यहा अलग-अलग माना है; परतु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नही है। क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर ये बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्थाए है ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नही है, न यह शरीर ही सृष्टिके बाहर है। इन तीनोंकी मिलकर एक ही भव्य

सृष्टि-सस्था वनती है । इसीलिए हम जो उत्पादक श्रम करगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे, उन सवको व्यापक अर्थमें 'यज्ञ' ही कह सकते है । गीताने चौथे अध्यायमें 'द्रव्य-यज्ञ', 'तपो-यज्ञ' आदि यज्ञ वताये है । गीताने यज्ञके अर्थको विशाल वना दिया है ।

इन तीनो सस्थाओके लिए हम जो-जो सेवा कार्य करेंगे, वे यज्ञ-रूप ही होगे । सिर्फ जरूरत है, उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी । उसमें फल-की अपेक्षा तो की ही नही जा सकती; क्योकि फल तो हम पहले ही ले चुके है । कर्जा तो पहलेसे ही सिरपर चला आ रहा है । जो ले लिया है, उसे ही वापस करना है । यज्ञसे सृष्टि-सस्थामें साम्यावस्था प्राप्त होती है । दानसे समाजमें साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है । इस तरह तीनो ही संस्थाओमें साम्यावस्था रखनेका यह कार्यक्रम है । इससे शद्धि होगी । दूषित भाव नष्ट हो जायगा ।

यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ भोग भी ग्रहण करना पडेगा । भोग भी यज्ञका ही एक अग है । इस भोगको गीता आहार कहती है । इस शरीर-रूपी यन्त्रको अन्न रूपी कोयला देनेकी जरूरत ह । यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नही है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अग जरूर है । इसलिए हम कहा करते है—"उदर भरण नही, जानो यह यज्ञ-कर्म ।" वगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढाना यह पूजा है; परतु फूल उत्पन्न करनेके लिए, बगीचेमें जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञको पूरा करनेके लिए जो कुछ क्रिया की जाती है वह एक प्रकारकी पूजा ही है । शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा, जव हम उसे आहार देंगे । यज्ञ-साधन रुप कर्म भी 'यज्ञ' ही है । गीता इन कर्मोको 'तदर्थीय कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म' कहती है । सेवार्थ शरीर सतत खडा रहे इसलिए इस शरीरको मै जो आहुति दूगा वह यज्ञ-रूप है । सेवाके लिए ग्रहण किया हुआ आहार पवित्र है ।

इन सव वातोके मूलमे फिर श्रद्धाकी जरूरत है । सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमे होना चाहिए । यह बहुत महत्वकी बात है । ईश्वरार्पण-बुद्धि सेवामयताके विना नही आ सकती । इस प्रधानवस्तु, ईश्वरार्पणता, को भुला देनेसे काम नही चलेगा ।

[१६]

परंतु हम अपनी सब क्रियाएं ईश्वर को कब अर्पण कर सकेंगे ? तभी, जब कि वे सात्विक होंगी । जब हमारे सब कर्म सात्विक होंगे, तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे । यज्ञ, दान और तप सब सात्विक होने चाहिए । क्रियाओंको सात्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्व हमने चौदहवें अध्यायमें देख लिया है । इस अध्यायमें गीता उस तत्वका विनियोग बता रही है ।

सात्विकताकी यह योजना करनेमें गीताका उद्देश्य दुहरा है । बाहरसे यज्ञ, दान व तप-रूप जो मेरी सेवा चल रही है, उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सके । सृष्टिकी सेवा और साधना के भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए । सेवा और साधना, ये दो भिन्न बातें है ही नही । दोनोंके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म । इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अन्तमें ईश्वरार्पण करना है । समाज-सेवा, अधिक साधना, ईश्वरार्पणता, यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए ।

यज्ञको सात्विक बनानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है । निष्फलताका अभाव और सकामताका अभाव । ये दो बातें यज्ञमें होनी चाहिए । यज्ञमें यदि सकामता होगी, तो वह राजस हो जायगा और यदि निष्फलता होगी तो वह तामस यज्ञ हो जायगा ।

सूत कातना यज्ञ है । परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमें अपनी आत्मा नहीं उंडेली, हमारे चित्तकी एकाग्रता नहीं हुई, तो यह सूतयज्ञ जड हो जायगा । बाहरसे हाथ काम कर रहे है, उस समय अंदरसे मनका मेल—मनोयोग—नहीं है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी । विधिहीन कर्म जड हो जाते हैं । विधि-हीन क्रियामें तमोगुण आ जाता है । उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नहीं हो सकता । उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नहीं होगी । यज्ञमें सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए । यदि कर्म मन लगाकर न हुआ, अंतःकरणसे न हुआ तो कर्म एक बोझ होगा । फिर उससे उत्कृष्ट फल कहां ? यदि बाहरका

काम विगडा तो यह निश्चित समझो कि अदर मनका योग नही था। अत कर्ममे अपनी आत्मा उडेलो । आतरिक सहयोग रखो । सृष्टि-सस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमें उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए । कर्मोमें फलहीनता न आने पाये इसीलिए आतरिक मेलकी विधि-युक्तता आवश्यक है।

इस प्रकार जब हमारे अदर निष्कामता आ जायगी और विधि-पूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। तो अब चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है ? वाहरी कामकी जाच करके देखो । यदि वह निर्मल और सुदर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई वाधा नही । भला, कर्ममें सुदरता कब आती है ? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसदगीकी, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है । जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमकी थपकी लगाता है, तो वहा सौदर्य उत्पन्न हो जाता है । सौदयके मानी है, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरी प्रसाद । कोई शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुदर मूर्ति मेरे हाथोसे नही बनी । मूर्तिका आकार घडते-घडते अतिम क्षणमें न जाने कहासे उसमें अपने-आप सौदर्य आ जाता है । क्या चित्त-शुद्धि-के विना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है ? मूर्तिमें जो कुछ स्वारस्य-माधुर्य—है, वह यही कि अपने अत करणका सारा सौदर्य उसमें उडेल दिया होता है । मूर्तिके मानी है, हमारे चित्तकी प्रतिमा ! हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तिया है । अगर मन सुदर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुदर होगी । बाहरके कर्मोकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोसे जाच लेनी चाहिए ।

एक बात और कहना रह गई । वह यह कि इन सब कर्मोमें मन्त्रकी भी आवश्यकता है । मत्र-हीन कर्म व्यर्थ है । सूत कातते समय यह मन्त्र अपने हृदयमें रक्खो कि मै इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोडा जा रहा हू । यदि यह मत्र हृदयमें न हो और घटो क्रिया की तो भी वह सब व्यर्थ जायगी । उस क्रियासे चित्त शुद्ध नही होगा । कपासकी पोनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्र-रूपमें प्रकट हो रहा है—ऐसा मत्र अपनी क्रियामें डालकर

फिर उस क्रियाकी तरफ देखो। यह क्रिया अति सुदर व सात्विक हो जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञ-रूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागे द्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बध जायगे। बालकृष्णके छोटेसे मुहमें यशोदा माको सारा विश्व दिखलाई दिया। अपने उस मत्रमय सूत्रके धागेमें भी तुमको विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

[१७]

ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार वैसा ही मन। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौनसा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्वकी है, कि वह कितना हो। ऐसा नही है कि आहारका चुनाव महत्वकी बात नही है, लेकिन हम जो आहार लेते है वह उचित मात्रामें है या नही, यह उसमे भी अधिक महत्व-की बात है। हम जो कुछ खाते है, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यो है? इसीलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी एक यज्ञाग ही है। सेवा-रूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहारकी जरूरत है। इस भावनासे आहारकी तरफ देखो। आहार शुद्ध व स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नही; परतु हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए काफी तपस्या की है। आहार-शुद्धिके लिए हिंदुस्तानमें विशाल प्रयत्न हुए है। उन प्रयोगोंमें हजारो वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या खर्च हुई, यह नही कहा जा सकता। इस भूमडलपर हिंदुस्तान ही एक ऐसा देश है, जहा जमातकी जमातें अमास भोजी है। जो जातिया मासभोजी है, उनके भी भोजनमें मास मुख्य और नित्य वस्तु नही है, और जो मास खाते है, वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते है। मनसे तो वे भी मासका त्याग कर चुके है। मासाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और इसीके लिए वह बन्द भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान्ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढाई। श्री-कृष्णने असाधारण बातें कुछ कम नही की है, परतु हिंदू जनता किस कृष्णके

पीछे दीवानी हुई थी ? हिंदू जनताको तो 'गोपाल कृष्ण', 'गोपाल कृष्ण' यही नाम प्रिय है। जिसके पास गायें बैठी हुई है जिसके अधरोपर मुरली रखी हुई है, ऐसा, गायोकी सेवा करनेवाला, गोपाल कृष्ण ही आबाल वृद्धोको परिचित है। इस प्रकार गो-रक्षणका वडा उपयोग मासाहार वद करनेमें हुआ। गायके दूधकी महिमा वढी और मासाहार कम हुआ।

फिर भी संपूर्ण आहार-शुद्धि हो गई हो सो वात नही। हमें अव उस सिलसिलेको आगे बढाना है। बगाली लोग मछली खाते है, यह देखकर कितने लोगोको आश्चर्य होता है, किन्तु इसके लिए उनको बुरा कहना ठीक न होगा। वगालमें सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरका सव तरह पोषण नही हो सकता। इसके लिए प्रयोग करने पडेगे। फिर लोगोमें इस वातका विचार शुरू होगा कि मछलीकी एवजमें कौन सी वनस्पति खायें जिसमें मछलीके बरावर ही पौष्टिक तत्व मिल जाय। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होगे और फिर ऐसे प्रयोग होगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जा सकते है। सूर्य जलता रहता है, तव जाकर कही जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमें रहती है। जब समाजमें वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते है और जब वे बडी श्रद्धा-पूर्वक परिस्थितियोके बधन तोडकर विना पखोके अपने ध्येयाकाशमे उडने लगते है, तव कही ससार-उपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममें सचार होता है। मांसाहार बंद करनेके लिए ऋषियोको कितनी तपस्या करनी पडी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पडे होगे ? इस वातका विचार ऐसे समय मेरे मनमे आता है।

साराश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनत त्याग करके हमारे पूर्वजोने जो कमाई की है, उसे तुम गवाओ मत ! भारतीय सस्कृतिकी इस विशेषताको डुवाओ मत ! हमको येन-केन प्रकारेण जीवित नही रहना है। जिसको किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बडा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते है। तव क्या जैसे पशु वैसे ही हम ? पशुमें और हममें अतर है। उस अतरको वढाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। अपने राष्ट्रने मासाहार त्यागका वहुत वडा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ।

कम-से-कम जिस मंजिलतक हम पहुंच चुके है, उससे पीछे तो मत हटो।

इसके उल्लेख करनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोको मांसाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी व पश्चिमी सभ्यता-का एक-दूसरेपर प्रभाव पड रहा है। मेरा विश्वास है कि अंतमे इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृतिके कारण हमारी जड श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अंध-श्रद्धा डिग गई तो कुछ हानि नही है। जो अच्छा होगा, वह टिक जायगा और बुरा जल जायगा। अंध-श्रद्धा जानेपर उसके स्थानपर अंध-अश्रद्धा अलबत्ता उत्पन्न न होनी चाहिए। यह नहीं कि केवल श्रद्धा ही अंधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही अंध विशेषणका ठेका नही लिया है। अश्रद्धा भी अंधी हो सकती है।

मांसाहारके बारेमें आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है। कुछ भी हो, मुझे तो जब कोई नवीन विचार सामने आता है, तो बडा आनंद होता है। उससे कम से कम ऐसा अनुभव जरूर होता है कि लोग जग रहे है और धक्के दे रहे है। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आंखे मलते हुए, वैसे ही चल पडेंगे तो गिर पडनेकी आशंका रहती है। अतः जबतक पूरे-पूरे न जग जाय, अच्छी तरह आंख खोलकर देखने न लगे, तबतक हाथ पैरोको मर्यादामें ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिए, पक्ष-विपक्ष, उल्टे-सीधे, सब तरफसे खूब सोचिए। धर्मपर विचारकी कैंची चलाइए। इस विचार-रूपी कैंचीसे जो धर्म कट जाय, समझो कि वह तीन कौडीका था। इस तरह जो टुकडे कट-छट जाय, उन्हे जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे, बल्कि जिससे उल्टी तुम्हारी कैंची ही टूट जाय वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोंसे डर नहीं। अतः विचार तो करो, परंतु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे तो धडामसे गिर पडोगे। विचार बहुत जोर मार रहे हो, तो भी अभी आचारको संभालकर रखो। अपनी कृतिपर संयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गवा बैठो।

[९८]

आहार-शुद्धिसे चित्त शुद्ध रहेगा। शरीरको भी बल मिलेगा। समाज-

सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमें सतोष रहेगा और समाजमे भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमें यज्ञ-दान-तप-क्रिया विधि और मत्र सहित होती रहती है, उसमें विरोध दिखाई नही देगा। दो काच यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हो तो जैसे इसमेका उसमें और उसमेंका इसमें दीखेगा, इसी तरह व्यक्ति और समाजमें बिब-प्रतिबिंब-न्यायसे परस्पर सतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है, वही समाजका और जो समाजका है वही मेरा। इन दोनो सतोषोकी हम जाच कर सकेंगे और हम इस नतीजेपर पहुचेंगे कि दोनो एक-रूप हैं। चारो ओर अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजना के द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनावें तो क्या ही बहार हो!

परतु आज व्यक्ति और समाज के जीवनमें विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध किस प्रकार दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमें श्रेष्ठ कौन है? व्यक्तिवादके कोई समर्थक समाजको जड समझते है। सेनापति के सामने अगर कोई सिपाही आता है, तो उससे बोलते समय वह सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा, परंतु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो—लकडीका एक लट्ठा हो। उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है, समाज जड। देखो, ऐसा अनुभव यहा भी हो रहा है। मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी है, परतु उन्हे रुचे या न रुचे, मैं तो बोलता ही जा रहा हू। मुझे जो विचार आता है, वही कहता रहता हू। मानो आप जड ही हैं। परतु अगर मेरे सामने कोई व्यक्ति आया तो मुझे उसकी बात सुननी पडेगी और उसे विचार-पूर्वक उत्तर देना पडेगा, परतु यहा तो मैंने आपको घटे-घटेभर यो ही बैठा रखा है।

"समाज जड है, और व्यक्ति चैतन्य"—ऐसा कहकर व्यक्ति चैतन्य-वादका कोई-कोई प्रतिपादन करते है और कोई समुदायको महत्व देते है। मेरे बाल झड गये। आखे चली गईं। हाथ टट गया और दात

गिर गये; इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी वेकार हो गया, परतु मैं फिर भी जीवित रहता हू, क्योंकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड है। किसी एकके नाशसे सर्वनाश नही हो जाता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराए है। आप जिस दृष्टिसे देखेंगे, वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रगका चश्मा, उसी रगकी सृष्टि।

कोई व्यक्तिको महत्व देता है, कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमें जीवन-कलहकी कल्पना प्रसृत हो गई है, परतु क्या जीवन कलहके लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यो नही जाते? कलह तो मरनेके लिए है। इसीकी वदौलत हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमें अन्तर है, उसको अजीव ही कहना चाहिए। भला, जो वस्तु वास्तवमें है ही नही, उसके अस्तित्वको आभासित करनेकी शक्ति जिसकी अक्लमें थी, उसका गौरव करनेको जी चाहता है! जो भेद नही है, वह उसने खडा किया और उसे जनताको पढाया! इस वातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा वनाना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नही है। इन सवका कारण है, यज्ञमय जीवनका आजका अभाव! इसीसे व्यक्ति और समाजमें भेद उत्पन्न हो गया है।

परतु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नही किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे तो कभी यह भाग वडा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहरपर उस कमरेके भाग अवलवित रहते है, वे स्थायी—पक्के नहीं है। गीता इन झगडोंसे परे है। ये झगडे काल्पनिक है। गीता तो कहती है कि अतःशुद्धिका कानून पालो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नही होगा। एक-दूसरेके हितमें वाधा नही होगी। इस वाधाको, इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियमपर अमल करनेवाला अगर एक भी आदमी मिल जाय, तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र सपन्न

हो जायगा । राष्ट्र है राष्ट्रके व्यक्ति । जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचार-संपन्न व्यक्ति नही है, उसे राष्ट्र कैसे मानेंगे ? हिंदुस्तान क्या है ? हिंदुस्तान रवीद्रनाथ है, हिंदुस्तान गाधी है या इसी तरहके पाच-दस नाम । वाहरका संसार हिंदुस्तानकी कल्पना इन्ही पाच-दस व्यक्तियो परसे करता है । प्राचीनकालके दो-चार, मध्यकालके चार-पांच और आज के आठ-दस व्यक्ति ले लीजिए और उनमें हिमालय, गगा आदिको मिला दीजिए । वस हो गया हिंदुस्तान । यही है हिंदुस्तानकी व्याख्या । वाकी सव हैं इस व्याख्याका भाष्य । भाष्य यानी सूत्रोका विस्तार । दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन ! झगडा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नही है । दूधका कस देखनेके लिए उसमें मक्खन कितना है, यह देखा जाता है । इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियोपरसे निकाला जाता है । व्यक्ति और समाजमें कोई विरोध नही है । विरोध हो भी कैसे सकता है ? व्यक्ति-व्यक्तिमें भी विरोध न होना चाहिए । यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक सपन्न हो जाय तो इससे क्या हानि हुई ? हा, कोई भी विपन्न अवस्थामें न हो और सपत्तिवालोकी सपत्ति समाजके काम आती रहे, वस । अत मेरी दाहिनी जेबमें पैसे है तो क्या और वाई जेवमें है तो क्या ! दोनो जेब आखिर हं तो मेरे ही ! अगर कोई व्यक्ति सपन्न हुआ तो उसमें मै सपन्न होता हूं, राष्ट्र सपन्न होता है, ऐसी युक्ति साधी जा सकती है ।

परतु हम भेद खडे करते है । अगर धड और सिर अलग-अलग हो जायगे तो दोनो ही मर जायगे । अत. व्यक्ति और समाजमें भेद मत करो । और गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थ-को किस प्रकार अविरोधी वना देती है । मेरे इस कमरेकी हवामें और वाहरकी अनंत हवामें कोई विरोध नही है । यदि मै इनमें विरोधकी कोई कल्पना करके कमरा वद कर लूगा तो दम घुटकर मर जाऊगा । अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो तो वह अनत हवा अदर आ जायगी । जिस क्षणमें अपनी जमीन और अपना घरका टुकडा औरोसे अलग करता हू, उसी क्षण मै अनत सपत्तिसे वचित हो जाता हू । अगर मेरा वह छोटा-सा घर जल गया, गिर गया तो मै ऐसा समझकर कि, मेरा

सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हू । परंतु ऐसा क्यो करना चाहिए ? क्यो रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो सकुचित कल्पना करें और फिर रोयें ! ये पाच,सौ रुपये मेरे है, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार सपत्तिमे मै दूर हुआ। ये दो भाई मेरे है, ऐसा समझा कि ससारके असख्य भाई मुझसे दूर हो गये । इसका हमें खयाल नही रहना । ओफ, मनुष्य अपनेको कितना सकुचित बना लेता है ! वस्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए । गीना ऐसा ही सरल सुदर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमें अच्छा सहयोग हो । जीभ और पेटमें क्या विरोध है ? पेटको जितना ही अन्न चाहिए, उनना ही जबानको देना चाहिए । पेटने 'बस' कहा कि जीभको लेना बद करना चाहिए । पेट एक सस्था है, जीभ दूसरी सस्था । मै इन सस्थाओका सम्राट् हू । इन सब सस्थाओमें अद्वैत ही है । कहासे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन सस्थाओमे वास्तविक विरोध नही है, बल्कि सहयोग है उसी प्रकार समाजमें भी है । समाजमे इस सहयोगको बढानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धि-पूर्वक यज्ञ-दान-तप-क्रियाका विधान बताती है । ऐसे कर्मोसे व्यक्ति और समाज दोनोका कल्याण होगा ।

जिसका यज्ञमय जीवन है, वह सबका हो जाना है । प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि माका प्रेम मेरे ऊपर है । उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है । सारी दुनियाको वह प्रिय व अपनाने योग्य लगता है । सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है ।

ऐसा पुरुष तो है धन्य, लोग चाहें उसे अनन्य ।

ऐसा समर्थ रामदासने कहा है । ऐसा जीवन बनानेकी तरकीब गीताने बताई है ।

[९९]

गीताका यह और कहना है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए । जीवनके सेवामय हो जाने पर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह आसानीसे कह तो गए

कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परन्तु यह करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोमे जाकर वह थोडा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय, अक्षरश सेवामय, हो जाय तो भी उससे ऐसा नही कह सकते कि पूजामय हो ही गये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मत्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहो आना सेवामय होना कठिन है। क्योकि परमार्थमें भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परमार्थ सभव ही नही है। ऐसा कोई काम नही हो सकता, जिसमें मेरा स्वार्थ लेशमात्र भी न हो। इसलिए दिन-प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक नि.स्वार्थ सेवा हाथोसे हो, ऐसी इच्छा रखना चाहिए। यदि यह चाहते हो कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो, तो सारी क्रियाए ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेवने कहा है—

'जीवन-कला साधते योगी, वैष्णवको है नाम मधुर।"

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नही है। नामका आतरिक घोष और बाह्य-जीवन-कला दोनोका मेल है। योगी वैष्णव एक ही है। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देनेपर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, सब एक रूप हो जाते है। पहले तो जो 'तुम' और 'मै' अलग-अलग है, उन्हे एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मै' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। 'ॐ तत्सत्' मत्रमें यही भाव सूचित किया गया है।

परमात्माके अनत नाम है। व्यासजीने तो उन नामोका 'विष्णु-सहस्रनाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर ले, वे सब उसके है। जो नाम हमारे मनमें स्फुरित हो, उसी अर्थमे उसे हम सृष्टिमें देखे और तदनुरूप हमारा जीवन बनावें। परमेश्वरका जो नाम मनको भावे, उसीको सृष्टिमें देखें और उसीके अनुसार अपने आपको बनावे। इसको मै "त्रिपदा गायत्री" कहता हू। उदाहरणके लिए ईश्वरका दयामय नाम ले लीजिए। ऐसा मानकर चले कि वह रहीम है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आखे खोलकर देखे। भगवान्ने हरेक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इस तरह उस

दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है, उसे देख व अपना जीवन भी दयामय बनावें। भगवद्गीता-कालमें भगवान्‌का जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने बनाया है। वह है 'ॐ तत्सत्'। 'ॐ' का अर्थ है 'हा', परमात्मा है।

इस बीसवी शताब्दीमें भी परमात्मा है।

"स एव अद्य स उ श्व."

वही आज है, वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है, और कमर कसकर मै भी साधना करनेके लिए तैयार हू। मैं साधक हू। वह भगवान् है, और यह सृष्टि-पूजा-द्रव्य—पूजा-साधन—है। जब ऐसी भावनासे हमारा हृदय भर जाय तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' हमारे गले उतर गया। वह है, मै हू और मेरी साधना भी है। ऐसा यह ॐकार-भाव मनमें बस जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जब कभी देखिए, वह किरणो सहित दिखाई देगा। किरणोको दूर रखकर कभी रह ही नही सकता। वह किरणोको नही भुलाता। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यो न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने आत्मसात् कर लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवान्‌के मागल्यको सृष्टिमें अनुभव करो। देखो तो वह पानीका पृष्ठ-भाग। पानीमेंसे एक घडा भर लो। उससे जो गड्ढा पडा, वह क्षण भरमें ही भर जायगा। यह कितना मागल्य है? यह कितनी प्रीति है? नदी गड्ढोको सहन नही करती। गड्ढोको भरनेके लिए दौडती है।

'नदी वेगेन शुद्धयति'

सृष्टि-रूपी नदी वेगके कारण शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सब शुभ और मगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस सत् नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाए निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोमेंसे छाना जाता था, उसी तरह

अपने सब कर्मो और साधनो को नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए ।

अब रहा 'तत्' । 'तत्'का अर्थ है 'वह'—कुछ-न-कुछ भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त । परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है, अर्थात् अमिप्त है । सूर्योदय हुआ कि कमल खिलने लगते है, पक्षी उडने लगते है और अंधकार नष्ट हो जाता है । परतु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है । इन सब परिणामोसे वह बिलकुल अलग-सा रहता है । जब अपने कर्मोमें अनासक्ति रखेंगे, अलिप्तता आ जायगी, तब समझिए कि हमारे जीवनमे 'तत्' प्रविष्ट हुआ ।

इस प्रकार गीताने यह 'ॐ तत्सत्' वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओको ईश्वरार्पण करना सिखाया है । पिछले नवें अध्यायमें सब कर्मोको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है । 'यत्करोषि यदश्नासि' इस श्लोकमें यही कहा गया है । इसी बात का सत्रहवें अध्यायमें विवरण दिया गया है । परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्विक होनी चाहिए । तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी । यह बात यहा विशेष बताई गई है ।

[१००]

यह सब ठीक है । किंतु यहा एक प्रश्न उठता है कि यह 'ॐतत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही हजम हो सकता है । पापी पुरुष क्या करे ? पापियोके मुहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नही ? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है । ईश्वरके किसी भी नाममें असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है । वह पापकी ओरसे निष्पापताकी ओर ले जा सकता है । जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए । परमात्मा अवश्य सहायता करेगा । तुम्हारी कमजोरीके समय वह तुम्हें सहारा देगा ।

यदि कोई मुझसे कहे कि "एक ओर पुण्यमय किंतु अहकारी जीवन, और दूसरी ओर पापमय किंतु नम्र जीवन, इनमेंसे किसी एकको पसद करो ।" तो यदि मैं मुहसे न भी बोल सकू तो अत करणसे कहूगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वर का स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो ! " मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती

हैं तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, मैं उसीको प्राप्त करूंगा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं पापमय जीवनका समर्थन कर रहा हूं, परतु पाप उतना पाप नहीं है, जितना कि पुण्यका अहकार पाप-रूप है ।

"कहीं ये सुजानपन, रोक न दें नारायण ?"

ऐसा तुकारामने कहा है। उस बडप्पनकी जरूरत नहीं है। उसकी अपेक्षा तो पापी, दु खी होना ही अच्छा है।

"ज्ञानी जो हैं बच्चे, उन्हें मां भी दूर रखें"

परंतु अज्ञान बालकोंको मा अपनी गोदमें उठा लेगी। मैं 'स्वावलबी पुण्य-वान्' होना नहीं चाहता। 'परमेश्वरावलबी पापी' होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने-जैसी है। हम पापोंको रोकनेका प्रयत्न करें। यदि वे नहीं रुके तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खडा-खडा खेल देख रहा है। पुकार करो—मैं पापी हू, इसलिए तेरे द्वारे आया हूं। पुण्यवानको ईश्वर-स्मरण अधिकार है, क्योंकि वह पुण्यवान है और पापीको ईश्वर स्मरणका अधिकार है, क्योंकि वह पापी है।

रविवार, १२-६-३२

अठारहवां अध्याय

[१०१]

मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवें अध्यायतक आ पहुचे है। प्रतिक्षण 'बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी सकल्पका पूर्ण हो जाना परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। फिर जेलमे तो कदम-कदमपर अनिश्चितताका अनुभव होता है। यहा कोई काम शुरू करने पर फिर यही उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। शुरू करते समय यह उम्मीद जरा भी नही थी कि हमारी यह गीता यहा पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर इच्छासे हम समाप्तितक आ पहुचे है।

चौदहवें अध्यायमे जीवनके अथवा कर्मके सात्विक, राजस, तामस, तीन भेद किये गये। इन तीनोमेंसे राजस व तामसका त्याग करके सात्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्याय-में यही बात दूसरे ढंगसे कही गई है। यज्ञ, दान व तप या एक ही शब्दमें कहे तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवें अध्यायमें हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म है, उन्हें सात्विक व यज्ञ-रूप बना-करके ही ग्रहण करें, केवल उन्ही कार्मोंको अगीकार करें जो यज्ञ-रूप और सात्विक है, शेष कर्मोका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' इस मन्त्रको क्यो हर समय याद रखना चाहिए। ॐ का अर्थ है सातत्य। 'तत्' का अर्थ है, अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है, सात्वि-कता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब वातोसे यह मालूम होता है कि कुछ कर्म तो हमें करने है, और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षापर हम ध्यान देंगे तो उसका जगह-जगह यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके त्यागका

विधान करती है। गीतामें सब जगह यही शिक्षा दी गई है कि कर्म तो सतत करो, परंतु फलका त्याग करते रहो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पड़ता है कि कुछ कर्म किये जाय और कुछ का त्याग किया जाय। इसलिए अन्तमें अठारहवें अध्यायके शुरूमें अर्जुनने पूछा—"एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्याग-पूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य हैं और कुछ करने योग्य हैं। इन दोनोंमें मेल कैसे बिठाया जाय?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न पूछा गया। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र 'सन्यास' कहता है, उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फल-त्यागमें कर्मका फलत त्याग करना है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है? क्या फल-त्यागकी कसौटीमें सन्यासका कोई उपयोग है? सन्यासकी मर्यादा कहां तक है? सन्यास व फल-त्याग इन दोनोंकी मर्यादा कहांतक व कितनी है? अर्जुनका यही सवाल है।

[१०२]

उत्तरमें भगवान्‌ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी एक सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व हर जगह लागू किया जा सकता है। सब कर्मोंके फलका त्याग, व राजस और तामस कर्मोंका त्याग, इन दोनोंमें विरोध नहीं है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करें तो वे कर्म अपने-आप ही गिर पड़ते हैं। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोड़ने ही चाहिए। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करनेमें कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

इसपर जरा गहराईसे विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूलमें कामना है उन्हें फल-त्याग-पूर्वक करो—ऐसा कहते ही उनकी बुनियाद ढह जाती है। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम तांत्रिक व यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप

मालूम हो जाता है कि कौनसे कर्म किये जाय और कौनसे नही। कुछ लोग कहते है कि 'गीता सिर्फ यही वताती है कि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो; पर कौन-से कर्म करो यह नही वताती।' ऐसा भासित तो होता है, परतु वस्तुत ऐसा है नही। क्योकि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो, इतना कहनेसे ही यह पता चल जाता है कि कौनसे कर्म करें और कौनसे नही। हिंसा-त्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी-जैसे कर्म-फल-त्याग-पूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही ये कर्म हवामें उड जाते हैं। सूर्यकी प्रभा फैलते ही सव चीजें उज्ज्वल दिखाई देने लगती है; पर अधेरा भी क्या उज्ज्वल दिखाई देता है? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निपिद्ध व काम्य कर्मोकी है। हमे सव कर्म फल-त्यागकी कसौटी पर कस लेने चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मै करना चाहता हूं वह अनासक्ति-पूर्वक, फलकी लेश-मात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना सभव है क्या? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो सन्यास ही उचित है। अव वचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्ति-पूर्वक अहकार छोडकर करने चाहिए। काम्य कर्मोका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैंची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन वातें हमने देखी। पहली तो यह कि जो कर्म हमें करने है, वे फल त्याग-पूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस व तामस कर्म—निपिद्ध व काम्यकर्म—फल-त्यागकी कसौटी पर कसते ही अपने-आप गिर जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा, उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा घमण्ड न होने देना चाहिए।

राजस व तामस कर्म त्याज्य क्यो? इसलिए कि वे शुद्ध नही है। शुद्ध न होनेसे कर्त्ताके चित्तपर उनके सस्कार हो जाते है, परतु अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोप होते है। जितने भी कर्म है, उन सवमें कुछ-न-कुछ दोष है ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है; लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्म-रूप खेतीमे भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदिमे कितने ही जंतु

मरते है। कुएंके पास कीचड न होने देनेके लिए उसे पक्का बनानेमें भी कई जीव-जतु मरते है। सवेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है, उससे असख्य जंतु नष्ट हो जाते है। जिसे हम शुद्धी-करण कहते है वह एक मारण-क्रिया ही हो रहती है। साराश, जब सात्त्विक स्वधर्म-रूप कर्म भी सदोष हो जाता है तब करें क्या ?

मैं पहले ही कह चुका हू कि सब गुणोका विकास होना तो अभी बाकी है। ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा, इनके बिंदु-मात्रका ही अभी अनुभव हमें हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नही है। ससार अनुभव करता जाता है और आगे बढता जाता है। मध्य युगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमें हिंसा होती है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति उसे न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है, पर कहते थे कि बेचना पाप नहीं। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे तो हमारा हित नही हो सकता। अगर मनुष्य इस तरह कर्म-सकोच करता चला जाय, तो अतमें आत्मनाश ही हो रहेगा। कर्मसे छूटनेका मनुष्य ज्यो-ज्यो विचार करेगा, त्यो-त्यो कर्मका विस्तार ही अधिक होता जायगा। आपके उस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती न करनी पडेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार न होगे ? अगर कपास उपजाना पाप है, तो उस उपजे हुए कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोका बहिष्कार करना यह कर्म भी नही वह कर्म भी नहीं, कुछ भी मत करो, इस प्रकार देखने वाली दृष्टिमें, कहना होगा कि, सच्चा दयाभाव शेष नही रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचनेसे पेड नही मरता। वह तो उलटा पल्लवित होता है। क्रियाका सकोच करनेमें आत्म-सकोच ही है।

[१०३]

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सभी क्रियाओमें दोष है, तो फिर सब कर्मोको छोड ही क्यो न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। 'सब कर्मोका त्याग'—यह कल्पना अत्यन्त सुदर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोडें कैसे ? राजस व तामस कर्मोके

छोडनेका जो तरीका है, क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगा ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म है, उनसे कैसे बचें ? मजा तो यह है कि 'इद्राय तक्षकाय स्वाहा' की तरह जब मनुष्य ससारमें करने लगता है तब अमर होनेके कारण इंद्र तो मरता ही नही बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उलटा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंमें पुण्य है और थोडा दोष है। परतु थोडा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे तो मज़बूत होनेके कारण पुण्य क्रिया तो नष्ट नही ही होगी, दोष क्रिया जरूर बढती चली जायगी। ऐसे मिश्रित विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इद्र तो मरता ही नहीं, पर दोष-रूप तक्षक, जो कि मर सकता था, वह भी नही मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौनसी ? बिल्ली हिंसा करती है, इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेगे। साप हिंसा करते हैं, इसलिए अगर उन्हें दूर किया, तो सैकडो जतु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनसे हजारो मनुष्य मर जायगे। इसलिए त्याग विवेक-युक्त होना चाहिए।

गोरखनाथको मच्छीन्द्रनाथने कहा—"इस लडकेको धो ला!" गोरखनाथने लडकेके पैर पकडकर उसे शिलापर पछाड डाला और बाड पर सुखाने डाल दिया। मच्छीन्द्रनाथने पूछा—"लडकेको धो लाये ?" गोरखनाथने उत्तर दिया—"हा, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है!" लडकेको क्या इस तरह धोया जाता है ? कपडे और मनुष्य धोनेका तरीका एक-सा नही है। इन दोनो तरीकोमें बड़ा अतर है। इसलिए राजस, तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमें बडा अतर है। सात्त्विक कर्म और तरहसे छोड़े जाते हैं।

विवेक-हीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकाराम ने कहा है—

> "त्यागसे भोग उगे जो भीतर।
> तब हे दाता! क्या मैं करूं ?"

छोटा त्याग करने जाते है तो ब[illegible] भोग आकर छातीपर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्याग-

की पूर्तिके लिए बडे-बड़े इंद्रभवन बनाते हैं। इससे तो वह झोपडी ही अच्छी थी। वही काफी थी। लगोटी लगाकर आस-पास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्ने सात्त्विक कर्मोके त्यागकी पद्धति ही अलग बताई है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने है लेकिन उनके फलोको तोड डालना है। कुछ कर्म तो मूलत त्याज्य है। और कुछके सिर्फ फल ही छोडने होते है। शरीरपर अगर कोई ऐसा वैसा दाग पड जाय तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है; पर अगर चमडीका रग ही काला है, तो उसे सफेदा लगानेसे क्या लाभ? वह काला रग ज्यों-का-त्यो रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यो हो? उसे अमगल न समझो।

एक आदमी था। उसे अपना घर मनहूस प्रतीत होने लगा तो वह किसी गावमें चला गया। वहा भी उसे गदगी दिखाई दी तो जगलमें चला गया। जगलमें एक आमके पेडके नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिर पर बीट कर दी। 'यह जगल भी अमगल है' ऐसा कहकर वह नदीमें जा खडा हुआ। नदीमें जब उसने बडी मछलियोको छोटी मछलिया खाते देखा, तब तो उसे बडी घिन आई। अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमगल है। यहा मरे बिना छुटकारा नही, ऐसा इरादा करके वह पानीसे बाहर आया और आग जलाई। उधरसे एक सज्जन आये और बोले—"भाई यह मरनेकी तैयारी क्यो?" "यह ससार अमगल है, इसलिए?" वह बोला। उन सज्जनने उत्तर दिया—"तेरा यह गदा शरीर, यह चरबी, यहा जलने लगेगी तो यहा कितनी बदबू फैलेगी? हम यहा पास ही रहते है। तब हम कहा जायगे? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गंध आती है? फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी! यहा कितनी गदगी फैल जायगी इसका भी तो कुछ विचार कर!" वह आदमी परेशान होकर बोला—"इस दुनियामें न जीनेकी गुजायश है और न मरनेकी ही। तो अब क्या करू?"

तात्पर्य यह कि मनहूस है, अमगल है—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे तो काम नही चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोसे बचना चाहोगे, तो दूसरे बडे कर्म सिरपर सवार हो जायगे। कर्म स्वरूपत. बाहरसे छोडनेपर

नही छूटते। जो कर्म सहज-रूपसे प्रवाह-प्राप्त है, उनका विरोध करनेमें अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अतमे वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मनपर का लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता चला जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने आप खतम होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाए लुप्त हो जायगी। कर्म छूटेगा नही, पर क्रिया लोप हो जायगी।

कर्म और क्रिया, दोनोमें अतर है। जैसे कि कही पर खूब गुल-गपाडा मचा हुआ है और उसे बद करना है। एक सिपाही खुद जोरसे चिल्लाकर कहता है—"शोर बद करो।" वहाका शोर बद करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेका तीव्र कर्म करना पडा। दूसरा कोई आकर चुपचाप खडा रहेगा व सिर्फ अपनी अगुली दिखावेगा। इतनेसे ही लोग शात हो जायगे। तीसरे व्यक्तिके सिर्फ वहा उपस्थित होने-मात्रसे ही शाति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पडी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया कम-कम होती चली गई। लेकिन तीनोमें लोगोको शात करनेका कर्म समान-रूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी, वैसे-वैसे क्रियाकी तीव्रतामें कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायगी। कर्म एक चीज है, क्रिया दूसरी। कर्ताको जो इष्टतम हो वह कर्म। यही कर्मकी व्याख्या है। कर्ममे प्रथमा व द्वितीया विभक्ति होती है, तो क्रियाके लिए स्वतत्र क्रियापद लगाना पडता है।

कर्म और क्रियामे जो अतर है, उसे समझ लीजिए। गुस्सा आनेपर कोई बहुत चिल्लाकर और कोई बिलकुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष क्रिया लेशमात्र भी नही करता, लेकिन, कर्म अनत करता है। उसका अस्तित्व-मात्र ही अपार लोक-सग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो उपस्थिति ही काफी है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हो, तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है तो उधर कर्म उलटा बढते जाते है। विचारकी यह धारा और आगे ले जावे एव चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो गया, तो अतमें क्रिया

शून्य रूप होकर कर्म अनत होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे, सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह अपने आप क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परतु तब अनत कर्म अपने आप ही होते रहेंगे।

वाह्य-रूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नही होंगे। निष्कामता-पूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिंगकी 'ढोंगी पोप' शीर्षक एक कविता है। एक आदमीने पोपसे कहा—"तुम आपनेको इतना सजाते क्यो हो? ये चोगे किसलिए? ये ऊपरी ढोंग क्यो? यह गभीर मुद्रा किसलिए?" उसने उत्तर दिया—"मै यह सब क्यो करता हू सो सुनो। सभव है, इस नाटक, इस नकलको करते-करते किसी दिन अनजानमें ही मुझमें श्रद्धाका सचार हो जाय।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा।

[१०४]

मतलब यह कि तामस व राजस कर्म तो विलकुल छोड देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए, और यह विवेक रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज व स्वाभाविक रूपसे सामने आजाय, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नही हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुडाना चाहोगे तो दूसरे असख्य दोष पल्ले आ पडेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसे ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुदर वनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भयानक और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक-रूपसे प्राप्त होनेके कारण नही छोडने चाहिए। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोडना है।

और एक वात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हो, उनके बारेमें, तुम्हे ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते है, तो भी उन्हे मत करो। उतने ही कर्म करो जितने सहज रूपसे प्राप्त हो। उखाड-पछाड व दौड-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके चक्करमें मत पडो। जिन कर्मोंको खासतौरपर जोड-तोड लगाकर करना पडता हो, वे कितने ही अच्छे क्यो न हो, उनसे दूर रहो। उनका मोह मत रखो। जो कर्म सहज प्राप्त हैं, उन्हीके फलका

त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे, कि यह कर्म भी अच्छा है, वह कर्म भी अच्छा है, चारो ओर दौडने लगे तो फिर फल-त्याग कैसे होगा? इससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगा। फलकी आशा से ही वह इन पर-धर्म-रूपी कर्मोको करना चाहेगा, और फल भी हाथसे खो वैठेगा। जीवनमे कही भी स्थिरता प्राप्त नही होगी। चित्तपर उस कर्मकी आसक्ति लिप्त हो जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोका भी लोभ होने लगे, तो उसे भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोको यदि करना चाहोगे तो उसमे भी राजसता व तामसता आजायगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक सहज-प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममे स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनो मिलकर स्वधर्म वनते है। मेरी वृत्तिके अनुकूल व अनुरूप क्या है और कौनसा कर्त्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है, यह सव स्वधर्म निश्चित करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। हरएक व्यक्तिमे उसकी अपनी कुछ-विशेपता होती है। वकरीका विकास वकरी वने रहनेमें ही है। वकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। वकरी अगर गाय वनना चाहे तो यह उसके लिए सभव नही। वह स्वय-प्राप्त वकरीपनका त्याग नही कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोडना पडेगा। नया धर्म व नया जन्म ग्रहण करना होगा, लेकिन इस जन्ममे तो उसके लिए वकरी-पन ही पवित्र है। वैल व मेढकीकी कहानी है न? मेढकीके वढनेकी एक सीमा है। वह वैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नही होता। इसीलिए परधर्मको भयावह कहा है।

फिर स्वधर्मके भी दो भाग है। एक वदलनेवाला अश और दूसरा न वदलनेवाला। मै जो आज हू, वह कल नही, और जो कल हू, वह परसो नही। मै निरंतर वदल रहा हू। वचपनका स्वधर्म होता है, केवल संवर्धन। यौवनमे मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी, तो उसके द्वारा मै समाज-की सेवा करूगा। प्रौढावस्थामे मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो वदलते रहनेवाला है और कुछ विलकुल न वदलने

वाला। इन्हीको अगर पुराने शास्त्रीय नामोसे पुकारना है तो हम कहेंगे—"मनुष्यके वर्ण-धर्म है और आश्रम-धर्म है।" वर्णधर्म नही बदलता, आश्रम-धर्म बदलते रहते है।

आश्रम-धर्म बदलते है इसके मानी यह है कि ब्रह्मचारी-पद छोडकर मै गृहस्थाश्रममे प्रवेश कर रहा हू, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममे व वानप्रस्थसे सन्यासमे जाता हू। इस तरह आश्रम-धर्म, बदलते रहते है, तब भी वर्ण-धर्म बदले नही जा सकते। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मै नही लाघ सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुमसे जो 'तुमपन' है, उसे तुम छोड नही सकते। यही वर्ण-धर्मकी भित्ति है। वर्ण-धर्मकी कल्पना बडी मधुर है। वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है क्या? पूछते है कि जैसे बकरीका बकरीपन, गायका गायपन वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रियका क्षत्रियत्व है? हा, मै मानता हू कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नही है, लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए। 'वर्ण-धर्म' शब्दका उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक तरकीबके तौरपर किया जाता है, तब उनके अपवाद अवश्य होगे। ऐसे अपवाद गृहीत मानने ही पडते है। गीताने भी इस अपवादको गृहीत माना है। सारांश, इन दोनो तरहके धर्मोको पहचानकर अवांतर धर्म कितना ही सुदर व मोहक प्रतीत हो तो भी उनके चक्करमें मत फसो।

[१०५]

फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये है उससे निम्नलिखित अर्थ निकलता है—

(१) राजस व तामस कर्मोका सपूर्ण त्याग।

(२) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहकार न हो।

(३) सात्त्विक कर्मोका स्वरूपत त्याग न करते हुए सिर्फ फल-त्याग।

(४) सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी फल-त्याग-पूर्वक उन्हें करना।

(५) सतत फल-त्याग-पूर्वक उन सात्त्विक कर्मोको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह क्रिया-मात्रका लोप हो जायगा।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म—लोकसंग्रह-रूपी कर्म—होते ही रहेंगे।

(७) सात्त्विक कर्म भी जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हो, वे ही करें। जो सहज-प्राप्त न हो, वे कितने ही अच्छे लगें तो भी उनसे दूर ही रहे। उनका मोह न होना चाहिए।

(८) सहज-प्राप्त स्वधर्म भी फिर दो तरहका होता है—बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नही बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलना चाहिए। उससे प्रकृति विशद्ध रहेगी।

प्रकृति तो सतत बहती रहनी चाहिए। निर्झर अगर बहता न रहेगा तो उससे दुर्गंध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्मका है। मनुष्यको पहले कुटुब मिलता है। अपने विकासके लिए वह स्वयको कुटुबके बधनोमें बाध लेता है। यहा वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है; लेकिन अगर कुटुबी होनेपर वह उसीमे जकड जायगा तो विनाशको प्राप्त हो जायगा। कुटुबमें रहना जो पहले धर्म-रूप था, वही अब अधर्म-रूप हो जायगा। क्योकि अब वह धर्म बंधनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्मको अगर आसक्तिके कारण नही छोडा, तो इसका परिणाम भयानक होगा। अच्छी चीजकी भी आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफडोमें चले गये तो वहा जाकर सारा जीवन भीतरसे खा डालते है। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी अगर असावधानीसे सात्त्विक कर्ममे घुस गए, तो उससे स्वधर्म सडने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममें भी राजस व तामसकी दुर्गंध आने लगेगी। अत कुटुब-रूपी यह बदलनेवाला स्वधर्म यथा-समय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी लागू होती है। राष्ट्र-धर्ममें भी अगर आसक्ति आगई और सिर्फ अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगें तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बडी भयकर चीज होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अध पात होगा।

[१०६]

साराश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना चाहते है, तो फल-त्याग-रूपी

चिंतामणिको अपनाओ। वह तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी वताता है। इस दीपकके पास होनेपर यह पता अपने आप चल जायगा कि कौनसा काम करें, कौनसा न करें और कौनसा कव वदलें। लेकिन अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेंगे। संपूर्ण क्रियाका लोप हो जाने की जो अंतिम स्थिति, उस पर साधक को ध्यान रखना चाहिए या नहीं ? साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थितिपर, जिसमें क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहें, दृष्टि रखनी चाहिए ?

नहीं; यहां भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करो। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुंदर है कि हमें जो चाहिए, उसपर निगाह न रखने-पर भी वह हमें मिल जायगा। जीवनका सबसे बडा फल मोक्ष है। उस मोक्ष—उस अकर्मावस्थाका भी हमें लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमें अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। संन्यास कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि दो बजकर पांच मिनटपर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तुम्हारे जीवनमें किस तरह विकास होता जायगा, इसका पता भी तुम्हें न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिंता छोड दो।

भक्त तो ईश्वरसे हमेशा यही कहता है—"मेरे लिए तुम्हारी भक्ति ही बहुत है। मोक्ष—वह अंतिम फल, मुझे नहीं चाहिए।" मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है—एक फल ही तो है। इस मोक्ष-रूपी फलपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। लेकिन इससे मोक्ष कहीं चला न जायगा। कैंची अलबत्ता टूट जायगी, और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। साधनामें ही इतने तन्मय हो जाओ कि तुम्हें मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुम्हें खोजता हुआ तुम्हारे सामने आ खडा हो। साधक तो बस अपनी साधनामें ही रंग जाय।

'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'

भगवान्‌ने पहले ही कहा था कि अकर्म दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अवफिर अतमें कहते हैं—"अहं त्वा सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुच.।" मैं मोक्ष-दाता समर्थ हू। तुम मोक्षकी चिंता मत करो। तुम तो एक साधनाकी ही चिंता करो।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तुम्हारे पास चला आवेगा। मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनामें ही रत रहनेवाले साधकके गलेमें मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

जहा साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वही सिद्धि हाथ जोडकर खडी रहती है। जिस घर जाना है, वह अगर वृक्षके नीचे खडा होकर 'घर-घर' का जाप करेगा, तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जगलमें ही रहनेकी नौवत आ जायगी। घरको याद करते हुए अगर रास्तेमें आराम करने लग जाओगे तो उस अतिम विश्राम स्थानसे दूर रह जाओगे। मुझे तो चलनेका ही उद्योग करना चाहिए। इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा। मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमें—मेरी साधनामें—शिथिलता आयगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा। मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है। अकर्म-स्थिति—विश्राति—की लालसा मत रखो। साधनाका ही प्रेम रखो तो मोक्ष सामने खडा होगा। उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे सवालका उत्तर नही मिलता। उसका जो तरीका मुझे मिला है, उसीसे सिलसिलेवार उत्तर मिलेगा। वह तरीका जहा खतम होता है, वही उसका उत्तर मौजूद है। समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी? तरीकेसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी? पानीमें डुबकिया खाते हुए परले पारके मौज-मजेमें ध्यान रहेगा तो कैसे काम चलेगा? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लाघो, वस, मोक्ष अपने-आप ही मिल जायगा।

[१०७]

ज्ञानी पुरुषकी अतिम अवस्थामें सब क्रिया लुप्त हो जाती है, शून्य-रूप हो जाती है। पर इसका यह मतलव नही है कि अतिम स्थितिमें क्रिया होगी

ही नही। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नही भी होगी। अतिम स्थिति अत्यंत रमणीय व उदात्त है। इस अवस्थामें जो भी कुछ होगा, उसकी उसे चिंता नही होती। जो भी होगा, वह शुभ और सुदर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठा-दशापर वह खडा है। यहां सब कुछ करनेपर भी वह कुछ नही करता। संहार करनेपर भी संहार नही करता। कल्याण करनेपर भी कल्याण नही करता।

यह अतिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाके मानी हैं—साधनाकी सहजावस्था। वहा इस बातकी कल्पना भी नही रहती कि मैं कुछ कर रहा हू। अथवा इस दशाको मैं साधककी साधनाकी 'अनैतिकता' कहूगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नही है, क्योकि झूठ क्या है, यह तो वह जानता ही नही। असत्यसे परिचित होनेपर भी सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्थामें असत्य है ही नही। यहा तो सत्य ही है। इसलिए वहा नीति नही। निषिद्ध वस्तु वहा खडी ही नही रह सकती। जो नही सुनना चाहते वह कानके अदर जाता ही नही। जो नही देखना चाहते, वह आखें देखती ही नही। जो होना चाहिए, वही हाथोंसे होता है। उसका प्रयत्न नही करना पड़ता। जिसे टालना चाहिए, उसे टालना नही पड़ता। वह अपने आप ही टल जाता है। यही नीति-शून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा, सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, उस अतिनैतिकतामें ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधना-की नि सत्त्वता' कह सकते हैं।

किस तरह इस दशाका वर्णन करें? जिस तरह ग्रहणके पहले उसके वेध लग जाते हैं, उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्ष दशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पडने लग जाती है। देहावस्थामें ही भावी मोक्ष स्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करते हुए वाणी लड़खड़ाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नही करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे नापी जाय? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सब क्रियाके क्षय हो जानेपर

भी सपूर्ण विश्वका वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करे यह समझमे नही आता।

इस अतिम अवस्थामें तीन भाव रहते है—एक है वामदेवकी दशा। उनका वह प्रसिद्ध उद्‌गार है—"इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह मैं हू।" ज्ञानी पुरुष निरहंकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमें समा नही सकती। भावावस्था क्रिया-वस्था नही है। भावावस्था यानी भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। इस भावावस्थाका थोडा-बहुत अनुभव हमको हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणसे गुणी होती है। उसके दु खसे दु खी, सुखसे सुखी होती है। माकी यह भावावस्था सतानतक सीमित है। सतानके दोषोको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी-पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे ससारके दोप अपने ऊपर लेता है।

त्रिभुवनके पापसे वह पापी और पुण्यसे पुण्यवान बनता है और ऐसा होनेपर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्य उसका स्पर्श नही कर पाते। रुद्र-सूत्रमें ऋषि कहते है—

"यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे"

मुझे जौ दे, तिल दे, गेहू दे। इस तरह मागते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बडा होगा? लेकिन वह मागनेवाला साढे तीन हाथके शरीरका नही था। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मै "वैदिक विश्वात्मभाव" कहता हू। वेदोमें इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है। गुजराती सत नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते है— "बापजी पाप में कवण कीधा हशे, नाम लेता तारू निद्रा आवे।"—हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौनसे पाप किये है, जो कीर्तनके समय भी मुझे नीद आती है। नीद क्या नरसी मेहताको आ रही थी? नीद तो श्रोताओको आती थी। परतु श्रोताओसे एक-रूप होकर नरसी मेहता पूछ रहे है। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी भावावस्था इसी प्रकारकी होती है। इस भावावस्थामें सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हे दिखाई देंगे।

वह खुद भी यही कहेगा। वह ऋषि कहते हैं न—"न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये हैं, करता हू और करूगा।" यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उड़ने लगता है। वह पार्थिवताके परे हो जाती है।

इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावतः क्या करेगा? वह जो भी कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी हुई है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इंद्रिया सात्त्विक बन गई है, जिससे उसकी तमाम क्रियाए सात्त्विक ही होगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखें तो सत्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमें दिखाई देगी। लेकिन अगर विश्वात्मभावकी दृष्टिसे देखेंगे तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य वह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेंक दिया है। क्षुद्र देहको उतारकर फेंकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

भावावस्था और क्रियावस्थाके अलावा भी एक तीसरी स्थिति ज्ञानी पुरुषकी है और वह है ज्ञानावस्था। इस अवस्थामे न वह पाप सहन करता है न पुण्य। सभी झटककर फेंक देता है। इस अखिल विश्वको आग लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नही होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नही होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्ष-दशामें—साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें—ये तीन स्थितिया सभव है।

यह अक्रियावस्था, अंतिम दशा कैसे प्राप्त हो? हम जो-जो भी कर्म करते है, उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा मनन करो कि 'मैं तो एक निमित्त मात्र हू, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नहीं है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। लेकिन इसीसे सपूर्ण कर्तृत्व चला जायगा, ऐसा नही है। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनभव होने दो कि मै अति तुच्छ प्राणी हू, उसके हाथका खिलौना—कठपुतली हू; वह मुझ नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है

वह शरीरजात है; मेरा उससे स्पर्श तक नही। ये सब क्रियाएं इन शवकी है। लेकिन मैं शव नही हूं। मैं शव नही, शिव हूं ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई सबध ही नही है, यह ज्ञानी पुरुषकी अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामें फिर ऊपर वही तीन अवस्थाएं होगी। पहल उसकी क्रियावस्था, जिसमे उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल व आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमे त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हूं, ऐसा उसे अनुभव होगा, परंतु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नही होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमें वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनो अवस्थाओ द्वारा ज्ञानी पुरुपका वर्णन किया जा सकता है।

[१०८]

अब इतना सब कहनेके बाद भगवान् अर्जुनसे कहते है—"अर्जुन मैंने तुम्हे यह जो सब कहा है, उसे तुमने ध्यानसे तो सुना है न? अब पूर्ण विचार करके जो तुम्हे उचित लगे, वह करो।" इस तरह भगवान्ने बडे दिलसे अर्जुनको छुट्टी दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। लेकिन भगवान्को फिर दया आ गई। दिये हुए इच्छा-स्वातंत्र्यको उन्होने फिर वापस ले लिया। कहा—"अर्जुन, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी साधना सब कुछ छोडकर तुम एक मेरी शरणमें आ जाओ।" इस तरह अपनी शरणमें आनेकी प्रेरणा करके भगवान्ने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है; इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमें कोई स्वतंत्र इच्छा ही न होने दो। अपनी इच्छा नही, उसीकी इच्छा चले, ऐसा होने दो।" मुझे स्वतंत्र रूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतन्त्रता मुझे नही चाहिए। मैं नही, सब कुछ तू ही है, ऐसा हो। वह बकरी जीवित दशामें—"में में में. . . . " करती है, यानी—"मैं मैं मैं" कहती है। लेकिन मरनेपर उसकी तात बनाकर पीजनमें लगाई जाती है तब, दादू कहता है,—"तुही, तुही, तुही,—तू ही, तू ही, तू ही, ऐसा वह कहती है।" अब तो सब "तूही, तूही, तूही।"

रविवार, १९-६-३२

प्रकरणोंकी विषयानुक्रमणिका

२

परिशिष्ट

गीता-प्रवचन अध्याय २ पृष्ठ १८ में रजोगुण और तमोगुणकी तुलना की गई है। उसे पढकर एक सज्जनने अपनी एक शका विनोवाजी पर प्रकट की। हैदरावादकी सर्वोदय-यात्रासे विनोवाजीने उसका उत्तर दिया। पाठकके लिए दोनोका उपयोग है, अतः शका और समाधान दोनो यहा दिए जाते है।

शका ' गीता-प्रवचनमे मराठीकी नई आवृत्तिमें अध्याय २, पृष्ठ २० पर कर्म करने वालोकी दुहेरी वृत्ति वताते हुए रजोगुण और तमोगुणकी समता आपने की है। 'लूगा तो फल-समेत ही' यह रजोगुणकी वृत्ति वताई और 'छोडूगा तो कर्म-समेत ही' यह तमोगुणकी वृत्ति वताई है। दोनो वृत्तियोमें फर्क नही है, यह आप भी कहते है। मेरे खयालमें दोनो वृत्तियोका समावेश रजोगुणमें ही हो जाता है। १, ३, ९ के हिसावसे तमोगुण, रजोगण और सत्वगुण एक दूसरेसे दूर है। रजोगुण और तमोगुण एक ही वृत्तिके पॉजिटिव और नेगेटिव स्वरूप नही है। कर्म करके फलको छोडो सत्वगुण है। "लूगा तो फल समेत ही" और "छोडूगा तो कर्म समेत ही"—ये दोनो रजोगुणमें ही खपने चाहिए। "केवल फल लूगा, पर कर्म नहीं करूगा।" यह वृत्ति तमोगुणमें जायगी। इससे भी एक भिन्न वृत्ति हो सकती है। वह है लापरवाही—इडिफरेन्स की वृत्ति। कर्म किया तो किया, अथवा हुआ तो हुआ। फलकी अपेक्षा, परवाह, आवश्यकता मोह आदि नही होता। उलटा, फल आया, लिया तो लिया, कर्मकी जरूरत, जवावदारी नही मालूम हुई। यह वृत्ति मनकी स्थितिके अनुसार कदाचित् तीनो गुणोमें हो सकती है। ज्ञान-शून्य स्थितिमें यह वृत्ति तमोगुणसे भी नीचेकी होगी और ध्यानमग्न स्थितिमें सात्त्विक वृत्तिसे भी ऊपरकी निकलेगी।

समाधान : तुम्हारा चिंतन अच्छा लगा। त्रिगुणके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है, किया जा सकता है। तमोगुणसे नीचेकी अथवा सत्वगुणसे ऊपरकी वृत्तिकी कल्पना नही की जाती। सारे जगत्का विभाग तीन गुणोमें करना है। तीनो गुणोसे अलिप्त एक अवस्था है। उसे गुणातीत पुरुषकी भूमिका समझना चाहिए। उसमें किसी प्रकारकी वृत्ति नही रहती, अत. उसे निवृत्ति कहते है, परन्तु निवृत्तिका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध नही। प्रवृत्ति-विरोध भी एक वृत्ति ही है उसे तमोगुण कहना चाहिए।

इतने प्रास्ताविक कथनके बाद अब मूल प्रश्न लो। तत्वत त्रिगुण प्रकृतिके घटक है। प्रकृतिमे तीनोकी आवश्यकता एक समान ही है। स्थिति, गति और प्रकाश तीनो मिलकर जीवन बनता है। यह तात्विक दृष्टि है। इसमे ऊपर, नीचेका कोई भेद नही है।

इससे भिन्न नैतिक दृष्टि है। इस दृष्टिसे तम, रज, सत्व ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुण है। सामान्यत लोग इस दृष्टिसे विचार करते है।

सृष्टि-तत्वको समझानेवाली प्राकृतिक अथवा तात्विक और दूसरी नैतिक, इन दोनोसे भिन्न एक साधनाकी दृष्टि है। तदनुसार रज और तम एक दूसरेके प्रतिक्रियारूप अथवा परीक्षण-रूप अथवा पूरक है। दोनो मिलकर एक ही वस्तु है। रजोगुणकी थकावटसे तमोगुण आता है, तमोगुणकी थकावटसे रजोगुण आता है, दोनोसे सत्वगुण भिन्न है। और वही साधकोका सखा है। रजोगुण और तमोगुण मिलकर आसुरी सम्पत्ति। सत्वगुण दैवी संपत्ति। ऐसा सघर्ष चल रहा है।

गीतामें प्राकृतिक, नैतिक और साधनिक तीनो प्रकारका विवेचन मिलता है। मैं प्राकृतिक विचारको छोडकर नैतिक और साधनिक दृष्टिसे मुख्यत. विचार करता रहता हू। कभी नैतिक, कभी साधनिक। जिस विवेचनके सबधमें प्रश्न उत्पन्न हुआ है, उसमे साधनिक दृष्टि है, इसलिए रजोगुण और तमोगुणकी एकत्र कल्पना की गई है।

फलत्यागके विचारकी अधिक छानबीन 'स्थितप्रज्ञदर्शन' और 'गीताई-कोपमें' की गई है।

विनोबा-साहित्य

१. विनोबाके विचार (दो भाग)   मूल्य प्रत्येक भाग का १॥)

इस पुस्तकमे विनोबाजीके पुराने तथा नये लेखो, भाषणो व विचारो का सग्रह किया गया है ।

२ शाति-यात्रा   २॥), ३)

गाधीके देहावसानके बाद उत्तर-भारतकी शाति-यात्राओमें दिये गए भाषणोका सकलन ।

३ गाधीजी को श्रद्धाञ्जलि   ॥)

गाधीजीके देहावसानपर बारह दिनोमें श्राद्ध-स्वरूप दिये गए पद्रह भाषण । गाधी-जीवनका सुन्दर विश्लेषण ।

४ सर्वोदय-विचार   १=)

'सर्वोदय' की कल्पना और विचारको समझानेवाले भाषण ।

५ सर्वोदय-यात्रा   १।)

हैदराबादके सर्वोदय सम्मेलनके लिए पैदल-यात्रा करते हुए मार्गमें दिये गये भाषणोका संग्रह ।

६ भूदान-यज्ञ   ।)

भूदान-यज्ञका रहस्य तथा महत्व समझानेवाले महत्वपूर्ण प्रवचन ।

७. राजघाट की सन्निधि में   ॥।)

उत्तर भारतकी भूदान-यज्ञ-यात्राके सिलसिलेमें दिल्ली-निवासके समयमें दिये गए प्रार्थना-प्रवचन ।

८ स्वराज्य-शास्त्र   १)

स्वराज्यकी व्याख्या । अहिंसात्मक राज्य-पद्धति एवं आदर्श राज्य-व्यवस्थाका शास्त्रीय विवेचन ।

९. स्थितप्रज्ञ-दर्शन   १॥)

गीताके आदर्श पुरुष—स्थितप्रज्ञकी व्याख्या । उसके आदर्शका शास्त्रीय विवेचन एव दर्शन ।

१०. ईशावास्य-वृत्ति   ॥।)

ईशोपनिषद्‌की शास्त्रीय टीका ।

११. ईशावास्योपनिषद   =)

ईशोपनिषद्‌का पद-पाठ सहित सरल अनुवाद—मूल सहित ।

नोट—विनोबाजीकी मराठी पुस्तकें 'ग्राम-सेवा-मडल' गोपुरी, वर्धासे मगाई जा सकती है ।

गांधी-साहित्य

१

क्रमबद्ध प्रकाशन

१. प्रार्थना-प्रवचन (खंड १) ३)

२. प्रार्थना-प्रवचन (खंड २) २॥)

१ अप्रैल १९४७ से २९ जनवरी १९४८ तक के गाधीजी के वे प्रवचन, जो उन्होंने दिल्लीकी प्रार्थना-सभाओमें दिये थे। राष्ट्रपिता की अतिम वाणी, ज्ञान और अनुभवसे परिपूर्ण।

३ गीता-माता ४)

गीताके बारेमे गाधीजी द्वारा लिखी सामग्री। मूल पाठके साथ-साथ अनासक्ति-योग, गीताबोध, गीता-प्रवेशिका, गीता-पदार्थ-कोप तथा गीता-सबधी स्फुट लेख।

४ पन्द्रह अगस्त के बाद अजिल्द १॥), स० २)

भारतके स्वतन्त्र होनेके दिनसे लेकर अतिम समय तकके गाधीजी के लेखोका सग्रह। अनेक महत्वपूर्ण समस्याओपर युग-पुरुषके विचार।

५ धर्म-नीति अजिल्द १॥), स० २)

गाधीजीकी नीति-धर्म, मगल प्रभात, सर्वोदय और आश्रमवासियोसे, इन चार पुस्तकोका सग्रह। जीवन-निर्माणकी दृष्टिसे अमूल्य पुस्तक।

६ दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास ३॥)

दक्षिण अफ्रीकामें मानवीय अधिकारोके लिए किये गये अहिंसात्मक संग्रामका विस्तृत इतिहास। आत्मकथाकी पूरक पुस्तक।

७ मेरे समकालीन ५)

अपने समयके वडे-से-बडे नेतासे लेकर सामान्य जनसेवकतकके गांधीजी द्वारा समय-समयपर लिखे गये मार्मिक सस्मरण।

८ आत्मकथा ५)

शिक्षा व ज्ञानमे उपनिषदोकी भाति पवित्र गाधीजीकी आत्मकथा चरित्रको उज्ज्वल और मनको पवित्र बनानेवाली।

अन्य पुस्तकें

९ गीता-बोध ॥)

गीताके प्रत्येक अध्यायका सरल व सुबोध भाषामें सार।

१०. अनासक्ति-योग १॥),

श्रीमद्भगवत गीताका श्लोक-सहित अनुवाद।

११. ग्राम-सेवा ।=)

असली भारत गावमें वसता है। इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिए गांधीजीने इस पुस्तकमें ग्रामसेवा-सबधी अनेक उपयोगी बातोका निर्देश किया है।

१२. मगल-प्रभात ।=)

सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि एकादश व्रतोका गाधीजी द्वारा सरल विवेचन।

१३. सर्वोदय ।=)

प्रसिद्ध लेखक रस्किनकी जीवन-परिवर्तनकारी पुस्तक 'अटु दिस लास्ट' का गाधीजी द्वारा किया गया भावानुवाद।

१४. नीति धर्म ।=)

मानव-जीवनके लिए आवश्यक नीति-नियमोपर प्रकाश।

१५. आश्रमवासियोंसे ॥)

वैयक्तिक और सामूहिक रूपसे मनुष्यके कर्त्तव्योका विवेचन।

१६ ब्रह्मचर्य १)

ब्रह्मचर्य, सतति-निग्रह विषयक गाधीजीके लेखोका सग्रह।

१७. राष्ट्र-वाणी १)

दूसरी गोलमेज परिषद् (लदन) में दिये गए गाधीजीके महत्वपूर्ण भाषण।

१८. एक सत्यवीर की कथा ।)

यूनानी तत्ववेत्ता सुकरातके अपनी सफाईमें अन्त समयमें दिये गए मार्मिक भाषणका गाधीजीकी भाषामें रूपातर।

१९ संक्षिप्त आत्मकथा १॥)

विद्यार्थियोंके लिए महात्माजीकी आत्मकथाका सक्षिप्त उपयोगी संस्करण। उर्दू सस्करण भी प्राप्य है।